वीर सेवा मन्दिर
दिल्ली

★

क्रम संख्या C-५६
काल नं० २४०.३ विजय
खण्ड

समालोचन के लीये
सादर भेंट.

श्रीलब्धिसूरीश्वर जैनग्रन्थमाला का ग्यारहवाँ मणी [११]

मूर्तिमंडन

लेखकः—

जैनरत्नव्याख्यानवाचस्पति कविकुलकिरीट

सूरिसार्वभौम जैनाचार्य श्रीमद्

विजयलब्धिसूरीश्वरजी महाराज

न्यायनिष्णात प्रखरव्याख्याता आचार्य श्री

विजयलक्ष्मणसूरिजी महाराज के सदुपदेश से

बीकानेर निवासी

बाबु शीखरचंदजी रामपुरीया की तर्फ से भेट

वीर सं. २४६७ * आत्म सं. ४५ * विक्रमसं. १९९७

दूसरा संस्करण

प्रकाशक:-
शाह चन्दुलाल जमनादास
श्री लब्धिसूरीश्वर जैनग्रन्थमाला
छाणी [बडोदरा स्टेट]

मुद्रक:-हीरालाल देवचंद
शारदा मुद्रणालय, पानकोरनाका
जुम्मा मसीद सामे-अमदावाद

दो शब्द

प्रिय सज्जनों !

आज जिन बातों को समझाते हुए अनेक शताब्दियें बीत गई मगर मूर्तिपूजक विरोधियों ने अपना कदाग्रह को दूर नहीं किया बल्कि येन केन स्वमत सिद्धि के लिये शास्त्र पाठों के झूठे अर्थ करके अज्ञान जनता को अपने फंद में फसाये रक्खा है, अब इस ऐतिहासिक समय में उन लोगों की पोल नहीं चलेगी।

प्रभु महावीर के नजदीक काल में ही बनी हुई मूर्तियां उपलब्ध हो रही हैं इससे इतना तो अवश्य ही साबित होता है कि जैन श्रावकों का मूर्ति पूजना आजकल से ही नहीं किन्तु प्राचीनतम है और आवश्यक है, इस लिये मूर्तिपूजा के विषय में विरोध करना केवल नादानी ही है, इस विरोध को छुडाने के लिये ही उपकार परायण असाधारण विद्वान् सूरि सार्वभौम कविकुलकिरीट जैनरत्न व्याख्यान वाचस्पति पूज्यपाद गुरुदेव आचार्य श्रीमद्विजयलब्धिसूरीश्वरजी महाराज ने बारं-बार विविध (उर्दू, हिन्दी, गुजराती) भाषा में उपकार के कारण मूर्तिपूजा के मन्तव्य की पोषक पुस्तिकाएं लिखी है खुबी यह है कि–आज जो जो मूर्तिपूजा को नही माननेवाले हैं उन सभी के कथन को युक्ति पुरस्सर खंडन करके मीठी भाषा में मंडन किया है अत एव इस ग्रंथ का नाम जैनमूर्तिमंडन वैदिक-

मूर्तिमंडन आदि विशेष रूप से नही रखते हुए सामान्य रूप से "मूर्तिमंडन" ही नाम रक्खा है इस पुस्तक की समाप्ति के अनन्तर शैलानावाले रतनलाल डोसी ने स्थानकवासी समाज की ओर से जो जो दलीलें दी हैं वे सब खंडित प्राय होने पर भी जादूगर की तरह दुनिया पर अपना जादू फैलाने की वांच्छा से उनही दलीलों से पूर्ण "लोंकाशाहमत-समर्थन" नाम की एक हिन्दी किताब प्रगट की थी, जिसमें तुच्छ युक्तियों से मूर्तिपूजा को उडाने का प्रयत्न किया है लेकिन उसका भी इसी ग्रंथकारने परिशिष्ट रूप से सिद्धान्त और युक्तियों से ऐसा खण्डन किया है कि मध्यस्थ आदमी हो तो अपने दुराग्रह को छोडकर सच्चा मूर्तिपूजक बने विगर नही रह सकता मात्र इतनी सूचना करनी जरूरी है कि पूज्य गुरुदेव ने तत्त्वन्यायविभाकर की न्यायपूर्ण टीका की रचना शुरू कर रक्खी है और उस में पूर्ण दत्तचित्त हैं इस लिये आप को बिलकुल अवकाश नहीं फिर भी मेरी विज्ञप्ति स्वीकार कर आपने यह मात्र संक्षिप्त रूप से रतनलालजी के पूर्ण पक्ष का उल्लेख विशेष रूप से नही करते हुए मात्र उत्तर का लक्ष्य रक्खा है इस लिये पढने वाले को वह किताब नजर के सामने रखना आवश्यक है अगर वह किताब न भी मिले तब भी मूर्तिपूजा की श्रद्धा तो अवश्य होगी इत्यलं विज्ञेषु।

—विक्रमविजय

जैनरत्न व्याख्यानवाचस्पति-कविकुलकिरीट-
सूरिसार्वभौम-जैनाचार्य-
श्रीमद्विजयलब्धिसूरीश्वरजी महाराज

IAR PRINTERY AHMEDABAD

श्रीवीतरागाय नमः ।

मूर्तिमण्डन

इस संसार में जितने मतानुयायी पुरुष हैं वे सब कहते हैं कि ईश्वर—परमात्मा का ध्यान इस असार संसार से पार करने वाला है, परन्तु इस बात का विचार नहीं करते कि निराकार का ध्यान कैसे होसक्ता है, क्योंकि जिसका कोई आकार ही नहीं है उसका कोई भी मनुष्यमात्र अपने हृदय में ध्यान नहीं कर सक्ता, यथा किसी पुरुष को कहा जाए कि शीतलदास जो कि बड़ा ही योग्य पुरुष है, और बम्बई नगर में रहता है, तुम उसका ध्यान करो, जिस पुरुष को शीतलदास का ध्यान करने के लिये कहा गया, उसने शीतलदास का कभी भी दर्शन नहीं किया है, अब वह बिचारा उसका ध्यान कैसे कर सक्ता है, यदि उस समय उसको शीतलदास का चित्र दिखला कर कहा जावे कि अब तुम उसका ध्यान करो, तो उसी समय उसका चित्त से ध्यान कर सक्ता है, परन्तु केवल नाम मात्र से कार्य्य नहीं होसक्ता। यदि नाम के सुनने से ही कार्य्य-सिद्ध होजाए तो आर्य्यस्कूल (पाठशाला) में अथवा ईसाईस्कूल में पढ़ने वाले लड़के अथवा कन्याओं के विवाह के समय एक दूसरे के चित्र न देखते। केवल लड़के लड़की का नाम ही पूछ लेते, परन्तु ऐसा नहीं करते हैं, जिससे विवाह करना होवे उनके चित्र आपस में अवश्य देख लेते हैं। अब ध्यान कीजिए कि लड़का लड़की तो एक प्रत्यक्ष वस्तु है, जब उनके चित्र विना कार्य्य नहीं होसक्ता, तो वह निराकार परमात्मा है उस का स्वरूप चित्र के विना अवलोकन करना अतीव दुःसाध्य है। और उसका ध्यान करना भी चित्र के विना कठिन है। यदि कोई यह कहे कि पुरुष तो स्वरूप

रागद्वेषपरित्यक्ता विज्ञाता विश्ववस्तुनः ।
सेव्यः सुधाशनेशानां गिरीशो ध्यायते मया ॥१॥

सूरिं श्रीविजयानन्दं तं नमामि निरन्तरम् ।
यस्याभूवं प्रसादेन बालोऽपि मुखरीतरः ॥२॥

प्रणम्य सद्गुरुं भक्त्या, सूरिं श्रीकमलाह्वयम् ।
क्रियते मूर्तिपूजाया-मण्डनं दुःखखण्डनम् ॥३॥

वाला है, इसलिये इसका चित्र तो बन सक्ता है, परन्तु ईश्वर परमात्मा की तो कोई मूर्त्ति ही नहीं है, इसवास्ते उसकी मूर्त्ति नहीं हो सक्ती, पुरुष मात्र को इस बात का ज्ञान होना चाहिये कि हमारे ढूंढिये भाई तो ऐसा कह ही नहीं सक्ते क्योंकि वे भी हमारी तरह चौवीस अवतारों को साकार मानते हैं। बतलावें कि यह लोग मूर्त्तिपूजा से कैसे छूट सक्ते हैं। शेष जो अन्यमतानुयायी हैं वह भी मूर्त्तिपूजा से नहीं छूट सक्ते। केवल उनका यह व्यर्थ कथन है कि हम मूर्त्ति को नहीं मानते। सो यह वार्ता आप को यथाकथन राजा के दृष्टान्त से अच्छी तरह मालूम हो जाएगी, यदि ईर्षा के उपनेत्र को उतारकर ध्यान करेंगे, तो अवश्य मूर्त्तिपूजा के सूक्ष्म विषय को मान लेंगे, अब दत्तचित्त होकर सुनिये।

एक नगर में एक राजा था, वह बड़ा धर्म्मात्मा जिज्ञासु और समदर्शी था। इसके दो मन्त्री थे, उन में से एक मन्त्री तो मूर्त्तिपूजा को मानता था और दूसरा नहीं मानता था और राजा साहब स्वयं ही मूर्त्तिपूजा किया करते थे। राजा साहब प्रतिदिन प्रातःकाल को इष्टदेव की भक्ति पूजा करके न्यायालय में आया करते थे, इसवास्ते प्रायः कुछ विलम्ब हो जाया करता था, एक दिन मूर्तिपूजाको न माननेवाले मन्त्रीने हाथ जोड़कर कथन किया कि महाराज! आप बहुत विलम्ब से न्यायालय में आते हैं इसका क्या कारण है? श्रीमहाराज ने प्रत्युत्तर दिया कि मैं पूजन करके आया करता हूं, इस लिए प्रायः देर होजाती है, तब मन्त्री ने कहा कि महाराज! अपमान न समझिए, आप ऐसे बुद्धिमान् होकर मूर्त्तिपूजा करते हो, मूर्त्तिपूजा

से कुछ भी लाभ नहीं (मूर्त्तिपूजा क्यों करते हैं ?) क्योंकि जड़ वस्तु को ईश्वर मानकर पूजना बुद्धिमानों का कर्त्तव्य नहीं है, अन्त में उस मन्त्रीने ऐसी २ बहुतसी बाते सुनाई कि तत्क्षण महाराज जी का ख्याल बदल गया, और मूर्त्तिपूजा करना छोड़दिया। जब दो चार दिन व्यतीत हुए तो मूर्त्तिपूजक मन्त्री ने भी यह बात सुनी कि महाराज ने मन्त्री के मूर्त्तिपूजा के निषेधक उपदेश से मूर्त्तिपूजा करनी छोड़दी है। तब एक दिन मूर्त्तिपूजक मन्त्री ने महाराज से निवेदन किया कि स्वामिन् ! हे नाथ ! क्या बात है, सुना जाता है कि आपने भगवान् की मूर्त्तिका पूजन करना छोड़ दिया है। तब महाराज ने प्रत्युत्तर दिया कि हां सत्य है मैं जड़ पूजा नहीं करूंगा। जड़ वस्तु हम को कुछ नहीं दे सक्ती। मूर्त्तिपूजक मन्त्री ने कहा कि हे स्वामिन् ! यदि ऐसा था तो आप पूर्व क्यों मूर्त्तिपूजन किया करते थे ? महाराज ने प्रत्युत्तर दिया कि मैं पहिले अज्ञान में था, परन्तु मुझे अब दूसरा मन्त्री सन्मार्ग पर ले आया है, इसलिये मैंने यह कार्य्य छोड़ दिया है। मूर्त्तिपूजक मन्त्री ने कहा, महाराज ! इस संसार में प्रायः ऐसा कोई भी मत है जो मूर्त्तिपूजन से रहित हो ? और किसी न किसी दशा में वह मूर्त्तिपूजा न मानता हो ? राजा साहिब ने कहा कि आप का यह कहना असत्य है, क्योंकि हमारा दूसरा मन्त्री ही मूर्त्तिपूजन को नहीं मानता ? और "ढूंढिये" "यवन" "सिक्ख" "आर्य्य" "ईसाई" इत्यादि मतवाले मूर्त्तिपूजन को नहीं मानते हैं। मूर्तिपूजक मन्त्री ने कहा कि आपको यह भी मालूम है कि आपके दूसरे मन्त्रीजी किस मत के अनुयायी हैं ?

राजा ने कहा, हां ! मुझे मालूम है कि वह आर्य हैं। मूर्त्तिपूजक मन्त्री ने कहा कि आपको निश्चय हो गया है कि "आर्य्य" "ढूंढिये" "सिक्ख" "यवन" "ईसाई" आदि मतानुयायी मूर्त्तिपूजन को नहीं मानते हैं। राजा ने कहा कि हां ! मुझ को दूसरे मन्त्री ने सुनाया है कि हम लोग मूर्त्ति को नहीं मानते हैं। मूर्त्तिपूजक मन्त्री ने कहा कि महाराज ! आंखों और कानों में चार अंगुलियों का अन्तर है आपने मन्त्री से केवल सुना ही है परन्तु अवलोकन नहीं किया है कि सत्य है ये लोग मूर्त्तिपूजन को नहीं मानते। यदि देखलें तो आपको स्वयं ही मालूम होजायगा, कि ये लोग क्या २ करते हैं। मैं आपको अच्छी तरह से दिखला सक्ता हूं कि ये लोग मूर्त्ति-पूजन से कदापि दूर नहीं होसक्ते। राजा ने कहा कि हां ! बड़े हर्ष की बात है कि यदि आप युक्ति प्रमाण से सिद्ध करके दिखलाओगे कि वस्तुतः ही यह उक्त धर्म्मावलम्बी मूर्त्तिपूजन को मानते हैं, तो मैं तत्क्षण मूर्त्तिपूजन करने लग जाऊँगा, और मान लूंगा। मूर्त्ति-पूजक मन्त्री ने कहा कि हे स्वामिन् ! बहुत अच्छा, तीसरे दिन आप एक सभा कीजिए। और "ढूंढिये" "सिक्ख" "यवन" और "आर्य्य" इन धर्म्मावलम्बिओं के चार सुयोग्य पुरुषों को बुलवाइये। राजा ने यह बात स्वीकार करली और नियत दिन आने पर सभा लगाई गई और सर्वमतानुयायी सज्जनगण एकत्रित होगये, और वे चार आदमी भी बुलाए गए। इस के अनन्तर राजा ने मूर्त्तिपूजक मन्त्री को आज्ञा दी, कि अब आप इन चार आदमियों से प्रश्न उत्तर कीजिए, और मूर्त्तिपूजा सिद्ध करिए। मन्त्री ढूंढिये भाई के सन्मुख

हुए और कहा, भ्रातृगण ! क्या आप मूर्त्तिपूजा को नहीं मानते है ? ॥

ढूंढिया—नहीं, हम जड़ मूर्त्ति को नहीं मानते, क्योंकि मूर्त्ति-पूजा न तो युक्ति से सिद्ध होती है, और न तो हमारे सूत्रों में तीर्थ-ङ्कर महाराज का मूर्त्तिपूजा के विषय में कथन है ॥

मन्त्री—प्रथम मैं आपको युक्ति से सिद्ध करके दिखलाता हूं ॥ लो सुनिए ! क्या आप सक्कर के बने हुए "**हस्ती, अश्व, वृषभ**" आदि खिलौने खाते हो या नहीं ? ॥

ढूंढिया—देखिए साहिब ! मैं साफ २ कह देता हूं कि हम खाते तो कदापि नहीं हैं, परन्तु जब से मूर्त्तिपूजा की विपदा हमारी ग्रीवा में चिपटने लगी—उसी समय से हमको यही कहना पड़ता है कि हां ! खा लेते हैं ॥

मन्त्री—वाह जी वाह ! ठीक, मनुष्यों के भय से आपने अपना मन्तव्य छोड़ दिया । इन बातों को जाने दो, ज़रा आप यह तो बतलाइये कि माला के कितने मणके होते हैं ॥

ढूंढिया--(१०८) एक सौ आठ ॥

मन्त्री—न्यूनाधिक क्यों नहीं होते ? एक सौ आठ ही की संख्या क्यों नियत है ? ॥

---

१ जिस मनुष्य को इसमें शंका हो वह किसी ढूंढिये भाई को अपने सन्मुख खण्ड का खिलौना खिलावे, वह कदापि नहीं खाएगा । यही कारण है कि वस्तुतः मूर्त्तिपूजन मानते हैं । केवल ईर्षा में आकर हठ में पडकर कुछ परमार्थ का ख्याल नही करते ॥

ढूंढिया–मुझे मालूम नहीं, इस लिये मैं आपको अपने गुरु जी से पूछकर निवेदन कर सक्ता हूं ॥

मन्त्री–अच्छा जाइए, परन्तु शीघ्र पधारिये, देर किसी प्रकार न हो ॥

ढूंढिया–श्रीमान् जी ! मैं पूछ करके आगया हूं ॥

मन्त्री–कहिए क्या ? ॥

ढूंढिया–गुरुजी ने कहा है कि अर्हन्त भगवन्त के द्वादश गुण, और सिद्ध महाराज के आठ, और आचार्य्यजी के छत्तीस, और उपाध्याय जी के पच्चीस, और साधु महाराज जी के सत्ताईस, इन सब का योग करने से १०८ गुण होते हैं, इस लिए मणके भी १०८ रक्खे गए हैं ॥

मन्त्री–आप कुछ समझे ? ॥

ढूंढिया–नहीं श्रीमान् जी मैं कुछ नहीं समझा हूं ॥

मन्त्री–आप तनक ध्यान से सुनिए मैं आपको समझाता हूं। पांच * परमेष्ठी के गुण एक सौ आठ होने से माला के मणके भी १०८ बनाकर उन में उन महात्माओं के गुणों की स्थापना (मूर्त्ति) क्यों नहीं मानी जाएगी ? जरूर ही माननी पड़ेगी ॥

ढूंढिया–यह बात तो ठीक है, भला कोई और भी युक्ति है ?।

मन्त्री–जरा ध्यान दीजिए, और फरमाइए कि आप लोगों के गुरु और गुरुणी के चित्र होते हैं ? या नहीं ? ॥

---

* जैनियों के मूलमन्त्र का नाम है, जो नवकार मन्त्र के नाम से प्रसिद्ध है ॥

ढूंढिया—हां साहिब, उनके तो सैंकडों ही चित्र मिल सक्ते हैं परन्तु हम लोक उनके केवल दर्शन ही करते है फल फूलादिक चढ़ाकर कच्चे पानी से स्नान कराकर हिंसा तो नहीं करते ॥

मन्त्री—अच्छा, यदि आप लोक हिंसा नहीं करते तो आपके गुरु करते होंगे ॥

ढूंढिया—वह कैसे ? ॥

मन्त्री—जिस समय चित्र लिया जाता है आप नहीं जानते कि कच्चे पानी से धोना पड़ता है जिस से असंख्य जीवों का नाश होता है आपके गुरु जान बूझकर चित्र खिंचवाते हैं। तो वे स्वयं जानकर ही हिंसा करवाते हैं इस लिए आपके गुरु हिंसा से पृथक् नहीं होसक्ते। और हिंसा समझ कर ईश्वर परमात्मा की मूर्त्ति की पूजा से हट जाना आपकी बड़ी भारी मूर्खता है चित्र खिंचवाने से मूर्त्ति का स्वीकार करना प्रत्यक्ष प्रतीत होता है ॥

बड़े शोक की बात है कि आप लोग ईश्वर परमात्मा की मूर्त्तियाँ नहीं बनवाते और न उनके सन्मुख सिर नमाते हो किन्तु गुरु जी की मूर्त्ति के सन्मुख मस्तक झुकाते हो इन बातों से आपके गुरुओं में अभिमान भी पाया जाता है। जो कि अपने चित्र खिंचवाकर "उनके सन्मुख जब आप लोग सिर झुकाते हैं" तो आपको मना नहीं करते और मूर्त्तिपूजा नहीं बतलाते, क्या ईश्वर के साथ ही शत्रुता है ? और क्या वे तीर्थङ्कर महाराज जो कि जगद्गुरु कहलाते हैं उन से भी बड़े हैं ! यदि आप लोग पक्षपात को छोड़-

कर ध्यान देंगे तो मूर्तिपूजा से कदाचित् भी दूर नहीं होसक्ते। भला एक बात मैं आपसे और पूछता हूं कि जिस स्थान में स्त्री की मूर्ति हो ब्रह्मचारी साधु वहां रहें वा न रहें ? ॥

ढूंढिया—कदाचित् भी वहां न रहें, क्योंकि जैनसूत्रो में लिखा है कि जिस स्थान पर स्त्री की मूर्ति हो वहां पर साधु न ठहरें इस बात को हम लोग भी मानते हैं ॥

मन्त्री—अब आप तनक ध्यान तो दें कि सूत्रों में निषेध क्यों लिखा है ॥

"विना प्रयोजनं मन्दोऽपि न प्रवर्त्तते"

अर्थात् मूर्ख भी विना प्रयोजन कोई काम नहीं करता तो फिर सूत्रों म तो सर्वज्ञों का ज्ञान है, क्यों निषेध किया है ? ॥

ढूंढिया—सूत्रो में इस लिये ही निषेध किया है कि वार २ स्त्री की मूर्ति की ओर देखने से बुरे भाव उत्पन्न होते हैं ॥

मन्त्री—तो फिर क्या वीतराग परमात्मा की मूर्ति देखने से शुद्धभाव नहीं उत्पन्न होंगे ? क्यों नहीं, अवश्य ही उत्पन्न होंगे, इस लिये ही सूत्रों में निषेध किया है, कि जिस दीवार पर स्त्री की मूर्ति हो साधु वा ब्रह्मचारी उसको न देखे। जैसे सूर्य्य को देखकर अपनी दृष्टि पीछे हटा ली जाती है, इसी प्रकार ही मुनि अपनी दृष्टि पीछे खैंच लें, क्योंकि दीवार पर स्त्री की मूर्ति को देखकर साक्षात् उस स्त्री का स्मरण होता है जिस की वह मूर्ति है ॥

अब ज़रा ध्यान से देखें कि जब तुच्छ स्त्री की मूर्ति को देख-

कर साक्षात् स्त्री का भान होता है तो क्या तीर्थङ्कर भगवान् की मूर्ति को देख कर उनका स्मरण नहीं होगा ? अवश्य ही स्मरण होगा। और आप लोक अपने गुरुओं के चित्रों का सन्मान तो करते हैं, यदि उनके चित्रों का अपमान करें, तो आपको बहुत ही अयोग्य प्रतीत होता है, तो फिर क्या परमात्मा की ही मूर्ति से द्वेष है ? यदि आप यह कहेंगे कि हम अपने गुरुओं की मूर्ति का सन्मान नहीं करते हैं तो आपका यह कथन भी मिथ्या है, क्योंकि यह बात तो हम उस समय मानें जब आपके गुरु की मूर्ति किसी ऐसे स्थान पर गिरी पड़ी हो जो कि अपवित्र स्थान हो, और आप न उठावें। फिर तो हम भी मानें कि निस्सन्देह आप लोक सन्मान नहीं करते, आप लोक तो विरुद्ध इसको शीशे में जड़ा कर अपने निवासस्थान में अपने शिर के ऊपर लटकाते हैं॥

यथा सती पार्वती जी और उदयचन्दजी और सोहनलालादि अपने गुरुओं के चित्र क्यों बनवाते हो ? क्योंकि आपकी धार्मिक युक्ति से मूर्ति को सन्मान करना और शिर झुकाना विरुद्ध है। क्योंकि वह भी तो स्याही और पत्र के विना और कोई वस्तु नहीं हैं॥ जैसे आप तीर्थङ्कर महाराज की मूर्तिओं को जड़ कहते हैं, इस प्रकार वे भी तो जड़ हैं ? इस लिये आपके गुरुओं को भी योग्य नहीं कि वे चित्र खिंचावें, क्योंकि बनाने में असंख्य जीवों का नाश होता है, आप लोग मूर्ति से कुछ लाभ ही नहीं समझते हैं तो फिर आपके गुरु हिंसा समझकर रात्रि को जलतक भी नहीं रखते, परन्तु फोटोग्राफर के मसाले से असंख्य जीवों की हिंसा के भागी होते हैं, सो

यह बात विचारास्पद है, हठ को छोड़िए और पक्षपात से मुख मोड़िए सन्मार्ग में अनुराग जोड़िये ॥

ढूंढिया—हां साहिब ! युक्ति से तो निस्सन्देह सिद्ध हो गया परन्तु सूत्रपाठ के विना हम नहीं मान सक्ते ॥

मन्त्री—यदि जैनसूत्रों से मूर्तिपूजा सिद्ध होजाय तो आप मान जायेंगे ? ॥

ढूंढिया—हां साहिब ! अवश्य २ ॥

मन्त्री—ध्यान दीजिए, आवश्यक सूत्र की निर्युक्ति में लिखा है कि भरत चक्रवर्ती ने अष्टापद पर्वत पर जिनमन्दिर वनवाया, और चौबीस तीर्थङ्करों की मूर्तिएं विराजमान कीं ॥

ढूंढिया—श्रीमान् जी, तनक धैर्य्य करें, हम लोग 'निर्युक्ति' 'भाष्य' 'चूर्णी' 'टीका' इत्यादि नहीं मानते, हम को तो सूत्र का मूलपाठ ही स्वीकार्य है ॥

मन्त्री—आप घबराते क्यों हो, सुन लीजिए, श्री भगवती सूत्र में साफ लिखा है कि निर्युक्ति को मानना चाहिए, जो नहीं मानता वह सूत्र के अर्थ का शत्रु है, यदि इस बात में सन्देह हो तो श्री भगवती सूत्र का पाठ सुन लो—

पाठ यह है—

सुत्तत्थो खलु पढमो बीओ निज्जुत्ति मिस्सओ भणिओ ।
तइओ य णिरवसेसो एस विही होइ अणुओगे ॥

---

१. भगवतीसूत्र शतक २५ उद्देश ३.

इस पाठ में साफ लिखा है कि प्रथम सूत्रार्थ का कथन करना, फिर निर्युक्ति के साथ द्वितीय बार अर्थ करना, और तीसरी बार निर्विशेष अर्थात् पूरा २ अर्थ करना, अब ख्याल करना चाहिये कि इस पाठ से निर्युक्ति मानना साफ प्रतीत होता है॥

ढूंढिया—भरत महाराज ने धर्म्म जानकर नहीं प्रत्युत बाप के मोह से मन्दिर और मूर्तियाँ बनवाई॥

मन्त्री—आपका यह कथन मिथ्या है, क्योंकि भरत महाराज जी ने श्रीऋषभदेवजी की ही नहीं प्रत्युत तेईस तीर्थङ्कर महाराज जी की मूर्तियां भी बनवाई थी, आप लोगों ने निर्युक्ति—भाष्य—टीका और चूर्णी—यह जो पांच अङ्ग हैं उनमें से केवल एक सूत्र को ही माना शेष छोड़ दिये। इस कारण से ही आप जैनश्वेताम्बर-धर्म्म के अनुयायी नहीं हैं। यथा वैदिकधर्म्म में स्वामी दयानन्दजी ने वेद के मूल पाठ को माना टीका और भाष्य को नहीं माना, और नया मत प्रकाशित किया और मुसलमान मत में जिन्होंने कुरान को माना, और हदीस को न माना वह राफ जी मत कहलाया, वैसे ही आप लोगों ने भी ठीक बात को न मानकर उलटी बात को माना और ढूंढिए कहलाए॥

द्वितीय प्रमाण।

श्रीसूयगडाङ्ग के दूसरे श्रुतस्कन्ध की निर्युक्ति में लिखा है कि आर्द्रकुमार ने जिनमूर्ति को देखकर प्रतिबोध पाया॥

तृतीय प्रमाण ।

श्री महावीर जी स्वामी के सन्मुख अंबड़ परिव्राजक ने अर्हन्त की मूर्त्ति को नमस्कार करना स्वीकार किया है ॥

पाठ यह है—

अंबडस्सणं परिवायगस्स नो कप्पइ अण्णउत्थिएवा अण्णउत्थियदेवयाणि वा अण्णउत्थिय परिग्गहियाइं अरिहंतचेइयाइं वा वंदित्तए वा नमंसित्तए वा णण्णत्थ अरिहंते वा अरिहंतचेइआणि वा ॥

आशय इस पाठ का यह है कि मुझ को अन्य मत के देवों की मूर्ति और यदि अन्य धर्म्मावलम्बी लोगों ने अर्हन्त की मूर्ति को लेकर अपना देव मान लिया हो उनको वन्दना नमस्कार करना स्वीकार नहीं है परन्तु अर्हन्त और अर्हन्त की प्रतिमा को वन्दना नमस्कार करूंगा ॥

चतुर्थ प्रमाण ।

आनन्द श्रावक के पाठ से प्रत्यक्ष ज्ञात होता है कि वह श्रीतीर्थंकर महावीर स्वामीजी के सन्मुख गया और उसने यह नियम स्वीकार किया कि मुझ को अन्य मत की मूर्ति को और अपने देव की मूर्ति को जो अन्य ने स्वीकार कर ली हो उनको वन्दना नमस्कार करना स्वीकार नहीं है । श्री उपासक दशाङ्ग सूत्र का वह पाठ पाठकगणों के प्रतीत होने के लिये नीचे लिखा जाता है ॥

१, औपपातिक सूत्र.

पाठ यह है—

नो खलु मे भंते ! कप्पइ अज्जप्पभइणं अन्नउत्थियाए वा अन्नउत्थिय देवयाणि वा अन्नउत्थिय परिग्गहियाइं अरिहंत-चेइयाइं वा वंदित्तए वा नमंसित्तए वा पुव्विं अणालित्तेणं आलवित्तए वा संलवित्तए वा तेसिं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्पदाउं वा णण्णत्थ रायाभिओगेणं गणाभिओगेणं बलाभिओगेणं देवयाभिओगेणं गुरुनिग्गहेणं वित्तिकंतारेणं कप्पइ मे समणे निग्गंथे फासुएणं एसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थपडिग्गहकंबलपायपुच्छणेणं पाडिहारिय पीढफलगसेज्जासंथारएणं ओसहभेसज्जेणय पडि-लाभेमाणस्स विहरित्तए तिकट्टु इमं एयाणुरुवं अभिग्गहो अभिगिण्हइ ॥

पञ्चम प्रमाण ।

श्रीज्ञातासूत्र में लिखा है कि जिनमन्दिरों में जाकर जिन-प्रतिमा की द्रौपदी ने सत्रह भेदी पूजा की और "नमुत्थुणं" पढ़ा सो पाठ यह है—

तएणं सा दोवइ रायवरकन्ना जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ मज्जणघरमणुपविसइ ण्हाया कयबलिकम्मा कयको-उयमंगलपायच्छित्ता सुद्धपावेसाइं वत्थाइं परिहियाइं मज्जण-घराओ पडिणिक्खमइ जेणेव जिनघरे तेणेव उवागच्छइ जिन-

१. उपासकदशांग अ. १.

घरमणुपविसइ पविसइत्ता आलोए जिणपडिमाणं पणामं करेइ लोमहत्थयं परामुसइ एवं जहा सुरियाभो जिणपडिमाओ अच्चेइ तहेव भाणियव्वं जाव धुवं डहइ धुवं डहइत्ता वामं जाणु अंचेइ अंचेइत्ता दाहिण जाणु धरणी तलंसि निहट्टु तिखुत्तो मुद्धाणं धरणीतलंसि निवेसेइ निवेसइत्ता इसिं पच्चुणमइ करयल जावकट्टु एवं वयासि नमोत्थुणं अरिहंताणं भगवंताणं जाव-संपत्ताणं वंदइ नमंसइ जिनघराओ पडिणिक्खमइ ॥

षष्ठ प्रमाण।

श्रीमहानिशीथ सूत्र में लिखा है कि जो पुरुष जिनमंदिर बनवाएगा उसको बारह वें स्वर्ग की गति प्राप्त होगी, देखलो इस में जिनमन्दिर बनवाने वाले की वारहवाँ देवलोक की गति का मिलना प्रत्यक्ष है ॥

ढूंढिया—हम महानिशीथ सूत्र को नहीं मानते ॥

मन्त्री—श्रीनन्दी सूत्र को आप मानते हो या नहीं ?

ढूंढिया—हां साहिब ज़रूर ॥

मन्त्री—उसी श्रीनन्दी सूत्र में श्रीमहानिशीथ का नाम लिखा है, बड़े ही शोक का स्थान है कि जिस नन्दी सूत्र को आप मानते हैं, उसके मूलपाठ में श्रीमहानिशीथ का नाम लिखा है, तो फिर आप उसको क्यों नहीं मानते ? ॥

सप्तम प्रमाण।

श्रीमहाकल्प सूत्र के पाठ से प्रत्यक्ष सिद्ध है कि साधु और

श्रावक जिनमन्दिर में सदैव जावें इस पर श्रीगौतम स्वामीजीने भगवान् से पूछा कि यदि न जावें तो क्या दण्ड लगता है। भगवान् ने उत्तर दिया कि यदि प्रमाद के कारण न जावें तो छट्ठ का या दुवालस का दण्ड लगता है। फिर श्रीगौतम स्वामीने पूछा कि हे भगवन्! क्या पौषध ब्रह्मचारी श्रावक पौषध में रहा हुआ जिन-मन्दिर में जावे? भगवान् ने उत्तर दिया कि हां गौतम! जावें। फिर श्री गौतम स्वामीजी ने भगवान् से पूछा कि वह मन्दिर में किसलिये जावे, भगवान ने उत्तर दिया कि ज्ञान, दर्शन, और चारित्र के वास्ते जावे। श्रीमहाकल्पसूत्र का पाठ यह है—

"से भयवं तहारूवे समणे वा माहणे वा चेइयघरे गच्छेज्जा? हंता! गोयमा! दिणे दिणे गच्छेज्जा। से भयवं जत्थ दिणे ण गच्छेज्जा तओ किं पायच्छित्तं हवेज्जा? गोयमा! पमायं पडुच्च तहारूवे समणे वा माहणे वा जो जिणघरं न गच्छेज्जा तओ छट्ठं अहवा दुवालसमं पायच्छित्तं हवेज्जा। से भयवं समणोवासगस्स पोसहसालाए पोसहिए पोसहबंभयारी किं जिणहरं गच्छेज्जा? हंता! गोयमा! गच्छेज्जा। से भयवं केणट्ठेणं गच्छेज्जा? गोयमा! णाणदंसणचरणट्ठाए गच्छेज्जा। जे केइ पोसहसालाए पोसहबंभयारी जओ जिणहरे न गच्छेज्जा तओ पायच्छित्तं हवेज्जा? गोयमा! जहा साहू तहा भाणियव्वं छट्ठं अहवा दुवालसमं पायच्छित्तं हवेज्जा"॥

ढूंढिया—महोदय! यह सूत्र भी बत्तीस सूत्रों में नहीं हैं इस-लिये हम लोक नहीं मानते॥

मन्त्री—रे भ्रातः ! श्रीनन्दीसूत्र के मूलपाठ में इसका नाम है या नहीं ? ॥

ढूंढिया—हां, श्रीनन्दीसूत्र के मूलपाठ में तो अवश्य है ॥

मन्त्री—तो फिर आप श्रीनन्दीसूत्र को मानते हो या नहीं ? ॥

ढूंढिया—हां मानते हैं ॥

मन्त्री—तो बड़े ही शोक की बात है कि फिर श्रीमहाकल्प सूत्र को क्यों नहीं मानते ॥

अष्टम प्रमाण ।

श्रीभगवती सूत्र में लिखा है कि तुंगीया नगरी के श्रावकों ने श्रीजिनप्रतिमा पूजी है ॥

नवम प्रमाण ।

श्रीरायपसेणीसूत्र में लिखा है कि सूर्य्याभ देवता ने श्री जिन-प्रतिमा की पूजा की है ॥

दशम प्रमाण ।

श्रीउत्तराध्ययनसूत्र की निर्युक्ति अध्ययन १० में लिखा है, श्रीगौतम स्वामीजी अष्टापद की यात्रा करने को गए ॥

एकादश प्रमाण ।

श्रीआवश्यकसूत्र की निर्युक्ति में लिखा है कि वग्गुर श्रावक ने श्रीमल्लीनाथजी का मन्दिर बनवाया, इसी सूत्र में लिखा है कि फूलों से यदि जिनपूजन किया जावे तो संसार में आवागमन न होवे

अर्थात् मोक्ष प्राप्त होवे, इसी सूत्रमें लिखा है कि प्रभावती श्राविका उदायन राजा की रानी ने जिनमन्दिर बनवाया और श्रीजिनप्रतिमा के आगे नाटक किया, इसी सूत्र में लिखा है कि श्रेणिक राजा प्रतिदिन सोने के यव बनवाकर श्रीजिनप्रतिमाके आगे साथिया किया करता था ॥

द्वादश प्रमाण ।

श्री प्रथम अनुयोग में अनेक श्रावक और श्राविकाओं ने जिन-मन्दिर बनवाये और श्रीजिनप्रतिमा पूजी ऐसा वृत्तान्त है ।

ढूंढिया—प्रमाण तो महोदयजी आपने उत्तम २ दिये, परन्तु चैत्य शब्द पर सन्देह है, क्योंकि इसका अर्थ मूर्त्ति वा भगवान् की प्रतिमा नहीं होसक्ता ॥

मन्त्री—तो और क्या होसक्ता है ? ॥

ढूंढिया—इस शब्द का अर्थ साधु होता है ॥

मन्त्री—किसी कोश में भी "चैत्य" शब्द का अर्थ साधु नहीं किया है, कोश में तो "चैत्यं जिनौकस्तद्बिम्बं चैत्यो जिनसभा-द्रुमः" अर्थात् जिनमन्दिर और श्रीजिनप्रतिमा को चैत्य कहा है, और जिनेश्वर भगवानकी सभाका वृक्ष का नाम चैत्य कहा है, आपने जो चैत्य शब्द का अर्थ साधु किया है, वह किसी प्रकार से भी ठीक नहीं है क्योंकि सूत्रों में तो किसी स्थान पर भी साधु को चैत्य

---

१ हैमनाममालासंग्रह का. २, श्लो. १६२.

कहकर नहीं बुलाया है, सूत्रों में तो "**निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा**" "**साहु वा साहुणी वा**" "**भिक्खु वा भिक्खुणी वा**" ऐसा लिखा है परन्तु "**चैत्यं वा चैत्यानि वा**" ऐसा तो किसी स्थान में भी नहीं लिखा है। यदि चैत्य शब्द का अर्थ साधु हो तो चैत्य शब्द स्त्री लिंग में नहीं बोला जाता है तो फिर साध्वी को क्या कहना चाहिए। श्रीमहावीर स्वामीजी के १४००० साधु कहे हैं लेकिन चैत्य नहीं कहे और श्रीऋषभदेवजी महाराज के ८४००० साधु कहे हैं परन्तु ८४००० चैत्य नहीं कहे, इसी प्रकार सूत्रों में कई स्थानों पर आचार्य्यों के साथ इतने साधु हैं ऐसा तो कहा है परन्तु किसी भी स्थान में इतने चैत्य हैं ऐसे नहीं कहा, केवल आपने अपनी इच्छा से ही चैत्य शब्द का अर्थ साधु किया है, सो अत्यन्त ही मिथ्या है, जहां २ चैत्य शब्द का अर्थ साधु करते हो, वहां यदि यथार्थ अर्थ के जानने वाले विद्वान् देखेंगे, तो उनको मालूम होजायगा कि आपका किया हुआ अर्थ विभक्ति सहित वाक्ययोजना में किसी रीति से भी नहीं मिलता है और जब सर्वत्र "**देवयं चेइयं**" का अर्थ साधु और तीर्थंकर मानते हो तो श्रीभगवतीसूत्र में डाढ़ों के वर्णन में भगवान ने श्रीगौतमस्वामीजी को कथन किया है कि जिनडाढ़ें देवताओं को पूजने योग्य हैं। "**देवयं चेइयं पज्जुवासामि**" इस स्थान में "**चेइयं**" शब्द का क्या अर्थ करेंगे ?। यदि साधु अर्थ करेंगे तो यह दृष्टान्त डाढ़ों के साथ नहीं घटसक्ता, यदि "तीर्थङ्कर" ऐसा अर्थ करोगे तो डाढ़ें श्रीतीर्थङ्करदेव के तुल्य सेवा पूजा करने योग्य होगई, जब तीर्थङ्कर महाराज की डाढ़ा सेवा पूजा के योग्य

होगई, तो फिर तीर्थङ्कर भगवान् की मूर्ति क्यों पूजने योग्य नहीं होसक्ती ?। अवश्य ही पूजने योग्य है। अतः चैत्य शब्द का अर्थ जो हमने किया है वैसा ही ठीक है और पूर्वाचार्य्यों ने यही अर्थ किया है ॥

ढूंढिया—चैत्य शब्द का अर्थ ज्ञान भी होसक्ता है, मूर्ति अथवा प्रतिमा नहीं होसक्ता ॥

मन्त्री—यह आपका कथन भी सर्व प्रकार से मिथ्या है क्योंकि सूत्रों में ज्ञान को किसी स्थान में भी चैत्य नहीं कहा है। श्रीनन्दीसूत्र में तथा जिन २ सूत्रों में ज्ञान का वर्णन है वहां सर्वस्थानों में ज्ञान का वाचक "**नाण**" शब्द लिखा है। और सूत्रों में जिन २ स्थानों में ज्ञानि मुनि महाराज का वर्णन है वहां पर "**मइनाणी**" "**सुअनाणी**" "**ओहिनाणी**" "**मणपज्जवनाणी**" "**केवलनाणी**" ऐसे तो कहा है, परन्तु "**मतिचैत्यी**" "**सुतिचैत्यी**" आदि २ किसी स्थान में भी नहीं कहा है, और जिस २ स्थान में भगवन्त को और साधु को "**अवधिज्ञान, मनःपर्य्यवज्ञान, परम अवधिज्ञान,**" और "**केवलज्ञान**" उत्पन्न होने का वर्णन है वहां पर ज्ञान उत्पन्न हुआ, ऐसे तो कहा है, परन्तु "**अवधिचैत्य**" "**मनःपर्य्यवचैत्य**" और "**केवलचैत्य**" आदि ऐसा किसी स्थान में नहीं कहा है। और सम्यक्दृष्टि श्रावक आदि को "**जातिस्मरण-ज्ञान**" और "**अवधिज्ञान**" उत्पन्न हुआ, ऐसे तो कहा है परन्तु "**अवधिचैत्य**" वा "**जातिस्मरणचैत्य**" उत्पन्न हुआ, ऐसा किसी भी स्थान में नहीं कहा है। इससे सिद्ध होता है कि सूत्रों

में किसी भी स्थान में ज्ञान को चैत्य नहीं कहा है। इसलिये आपका कहना प्रत्येक प्रकार से मिथ्या है ॥ और सुनिए चमरेन्द्र के वर्णनमें "अरिहन्ते वा, चेइआइ वा" और "अणगारिए वा" ऐसा पाठ लिखा हुआ है, इस पाठ से भी स्पष्ट "चेइयं" शब्द का अर्थ "प्रतिमा" ही सिद्ध होता है, क्योंकि इस पाठ में साधु भी पृथक् और अर्हन्त भी पृथक लिखे हुए हैं। और "चेइयं" अथवा श्रीजिनप्रतिमा का भी पृथक् वर्णन है, इसलिये इस स्थान में और कोई अर्थ नहीं होसक्ता, आप जो तीनों ही स्थान में केवल "अर्हन्त" ऐसा अर्थ करते हैं यह आपकी मूर्खता है आप स्वयं ही विचार लेवें क्योंकि कोई साधारण मनुष्य भी शब्दार्थ का जानने वाला कदापि नहीं कहसक्ता है कि तीनों स्थानों में केवल अर्हन्त ही अर्थ हो सक्ता है ॥

ढूंढिया—यदि उक्त वृत्तान्त में चैत्य शब्द से जिनप्रतिमा का अभिप्राय होवे और चमरेन्द्र प्रतिमा का शरण लेकर सुधर्म्म देवलोक तक गया होवे तो फिर नीचे के लोग और द्वीपों में शाश्वती जिनप्रतिमा थी और ऊर्ध्वलोक में मेरुपर्वत ऊपर और सुधर्म-देवलोक में और सिद्धायतन में समीप ही शाश्वती जिनप्रतिमा थी तो जिस समय शक्रेन्द्र ने चमरेन्द्र पर वज्रपात किया था उस समय वह जिनप्रतिमा की शरण क्यों न गया ? और श्रीमहावीर स्वामी की शरण क्यों गया ?

मन्त्री—यह भी आपकी चालाकी केवल भोले लोगों को ही धोखा देने के लिये है, परन्तु दत्तचित्त होकर सुनिए। इसका उत्तर

प्रत्यक्ष है कि जिस किसी की जो शरण लेकर जाता है और फिर जब वह आता है तो उसी के समीप ही आता है। चमरेन्द्र श्री महावीर स्वामी की शरण लेकर गया था, जब शक्रेन्द्र ने इस पर वज्रपात किया तो चमरेन्द्र श्रीमहावीरजी की शरण ही आया, यदि आपका ऐसा ख्याल होवे कि मार्ग में समीप ही शाश्वती प्रतिमा और सिद्धायतन थे, चमरेन्द्र इनके समीप क्यों न गया ? तो यह ख्याल भी केवल आपकी अज्ञानता का ही द्योतक है, क्या मार्ग में श्री-सीमन्धरस्वामी और दूसरे बिहरमान जिन विद्यमान नहीं थे ? उनकी शरण में चमरेन्द्र क्यों न गया ? फिर तो आपकी मति के अनुसार बिहरमान तीर्थङ्कर शरण लेने योग्य नही हुए, वाह जी ! वाह ! आपकी ऐसी बुद्धि पर शोक है ॥

ढूंढिया—वन आदि को "चैत्य" कहा जासक्ता है ॥

मन्त्री—जिस वन में यक्ष आदि का मन्दिर होता है उस वन को सूत्रों में "चैत्य" कहा है, दूसरे किसी वन को सूत्रों में "चैत्य" नहीं कहा है इसलिये आपका यह कथन भी मिथ्या है ॥

ढूंढिया—यक्ष को भी चैत्य कहा है।

मन्त्री—आपका यह कहना भी असत्य है, क्योंकि जैनसूत्रों में किसी भी स्थान में यक्ष को "चैत्य" नहीं कहा है। यदि कहा है तो आप सूत्रपाठ दिखलावें, ऐसे ही बातें बनाने से नहीं माना जाता और जो आप लोग मूर्ति नहीं मानते हैं तो आप लोगों को कोई पुस्तक न पढ़ना चाहिये क्योंकि पुस्तक भी केवल ज्ञानस्थापना

है। ज्ञान एक अरूपी पदार्थ आत्मा का ज्ञान गुण है, (क) (ख) (ग) अथवा (आ) [ब) (प) (त) आदि २ अक्षरों में स्थापना बनाई हुई है। इसलिए उनको भी जैनशास्त्रों में अक्षर श्रुतज्ञान माना है। इस बात को आपलोग भी मानते हैं। अब तनिक ध्यान दीजिए कि जब पत्र और मसी जड़पदार्थों को अक्षरज्ञान माना, तो भगवान् की मूर्तिको भगवान् क्यों न मानाजावे? और यथा सन्मान और पूजाभक्ति शास्त्रकी की जाती है वैसे ही भगवान् की मूर्तिकी पूजा क्यों नहीं करते हो?॥

ढूंढिया–अक्षरको हम श्रुतज्ञान नहीं मानते हैं प्रत्युत उससे जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसका नाम श्रुतज्ञान है॥

मन्त्री–हमारा भी तो यह कहना है कि हम भी मूर्तिको भगवान् नहीं मानते हैं प्रत्युत उससे जिस पदार्थका ज्ञान होता हैं, उसको ही हम भगवान् मानते हैं, अब आपको ध्यान देना चाहिए कि आप लोग शास्त्र को पढ़ने वाले मूर्ति पूजासे कैसे दूर हो सक्ते हैं। क्योंकि समस्त शास्त्र भी जड़ स्वरूप हैं और ज्ञान की स्थापना हैं। यदि प्रत्येक भाषा में अक्षरों की बनावट पृथक् २ भी क्यों न हो, परन्तु अक्षरों के आकार को तो फिर भी ज्ञान का कारण स्वीकार करना ही पड़ेगा। चाहे उर्दू नागरी अरबी आदि किसी भाषा के क्यों न हों, ऐसे ही मूर्तियां भी पृथक् २ श्रीऋषभदेवजी स्वामी और श्रीमहावीरजी स्वामी की हुई है। इन मूर्तियों को भी जिनकी यह मूर्तियां हैं, उनके ज्ञान का कारण स्वीकार करना ही पड़ेगा, क्योंकि हमने ईश्वर की आकृति नहीं देखी है इसलिये उसकी मूर्ति

के विना ईश्वर आकृति के स्वरूप का बोध हम को कदाचित् नहीं हो सक्ता, जो लोग मूर्ति को नहीं मानते हैं वे लोग ईश्वर परमात्मा का ध्यान कदाचित् नहीं करसक्ते॥

ढूंढिया—हम लोग अपने हृदय में परमात्मा की मूर्ति की स्थापना कर लेते हैं॥

मन्त्री—वाह जी! वाह! आपकी कैसी समझ है, अरे भाई! जब आप हृदय में कल्पना कर लेते हैं तो बाहिर क्यों नहीं करते? यह तो केवल कहने की बातें हैं कि हम मूर्तिके बिना ध्यान कर सक्ते हैं। मूर्ति बड़ा भारी प्रभाव रखती है, यदि मूर्ति कुछ प्रभाव नहीं रखती, तो आप लोगों को परमात्मा की मूर्ति देखकर द्वेषभाव क्यों प्रगट होता है, इससे सिद्ध होता है, कि मूर्ति बड़ा भारी प्रभाव रखती है॥

द्वेषियों को द्वेषभाव और रागियों को राग आता है। यदि आपको द्वेष आता है तो हमको आनन्द आता है जब परमात्मा की मूर्ति हम को इस संसार में आनन्द देती है तो परलोक में भी हम को आनन्ददायक होगी। आप इस संसार में परमात्मा की मूर्ति को देखकर अप्रसन्न होते हैं तो परलोक में भी अप्रसन्न रहोगे। जो लोग इस संसार में धर्म्म करने से प्रसन्न हैं वे परलोक म भी अवश्य प्रसन्न और सुखी होंगे और जो लोग इस जगत् में धर्म्म करने से रुष्ट रहते हैं वे परलोक में भी अवश्य दुःखी होंगे, इससे सिद्ध होता है कि परमात्मा की मूर्ति दोनों लोक में लाभदायक है, और न मानने वालों को दुःखदायक है॥

ढूंढिया—फिर तो भगवान् वीतराग सिद्ध न हुए जो कि सुख और दुःख देते हैं ॥

मन्त्री—परमात्मा की मूर्ति तो एक प्रकार का साधन है, वस्तुतः तारने वाली तो हमारी आन्तरिक भावना ही है। जो मनुष्य परमात्मा की मूर्ति को देखकर परमात्मभाव लाएगा, और इनके इतिहास पर ध्यान करेगा, और शुभ भावना को विचारेगा तो वह अवश्य ही अच्छा फल पावेगा, और जो परमात्मा की मूर्ति देखकर द्वेष करेगा और अशुभ भावना करेगा वह अवश्य ही बुरा फल पावेगा ॥

ढूंढिया—जड़ वस्तु से अच्छे और बुरे भाव किस तरह आसक्ते हैं आप दृष्टान्त के साथ समझावें ॥

मन्त्री—एक सुन्दरी स्त्री बन में अकेली जा रही थी मार्ग में बिचारी को सर्प ने काटा सर्प अति विषयुक्त था। इसलिये तत्क्षण बिचारी देहान्त होगई। अकस्मात् इसी मार्ग से एक पथिक जारहा था, उसने मृत स्त्री के शरीर को देखकर अपने हृदय में विचारा, कि अहो! यह कैसी सुन्दरी युवति है, परन्तु खेद यह है कि यह मृत हुई २ है, यदि जीवित होती तो मैं अवश्य इससे अपनी इच्छा पूरी करता। नम्रता से वा लोभ से वा मीठी २ बातों से मान जाती तो अच्छा होता, नहीं तो मैं हठ से भी इसको न छोड़ता, चाहे मुझे कारागार जाना ही पड़ता, ऐसा दुष्टभाव हृदय में रखता हुआ आगे चला गया। थोड़ी देर पीछे फिर इसी मार्ग से एक और पथिक का

आगमन हुआ, वह कोई बड़ा धर्म्मात्मा था और सदाचारी था, इसने जब उस मृत स्त्री को देखा तो वह बड़े शोक समुद्र में डूब गया,और हृदय में विचार करने लगा कि यह संसार असार है, इस संसार में जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक आदि प्राणियों को नित्य ही दुःख दे रहे हैं। इन सर्व दुःखो में से मृत्यु का दुःख अधिक है, धन्य योगीश्वर महात्मा पुरुष हैं जिन्होंने इस संसार को असार जानकर त्याग दिया। यह तो कोई बड़ी सदाचारिणी अच्छे भावों वाली मधुरभाषिणी सत्कुलोत्पन्ना स्त्री प्रतीत होती है तथा प्रतीत होता है कि बिचारी किसी आवश्यक कार्य्य के लिए जारही थी॥ हाय! कर्म्म कैसे बलवान् हैं, कि यह बिचारी अकेली इस भयानक निर्जन बन में सर्प के काटने से मरगई। यदि मैं उस समय इस बिचारी के समीप होता तो अवश्य इस सदाचारिणी को बचाने के लिये हृदय से यत्न करता, सम्भावना थी कि यह बिचारी मृत्यु के वश न होती और अपना नित्यधर्म्म कर्म्म करके जन्म सफल करती। देखो कैसी मोहिनी मूर्ति है यह तो कोई साक्षात् देवी है, ऐसा विचार करके वह मनुष्य आगे चला गया॥ अब ध्यान करना चाहिये कि दोनों मनुष्यों ने इस स्त्री के मृत तथा जड़ शरीर को देखकर पृथक् २ भावना के वश से पाप पुण्य का बन्धन किया। इस दृष्टान्त से सिद्ध होता है कि पाप पुण्यका फल केवल अपनी आन्तरिक भावना से ही मिलता है। भगवान् वीतराग तो न किसी को सुखी और न किसी को दुःखी करते हैं और न किसी को पुण्य और न किसी को पाप देते हैं। भगवान् तो वीतराग ही हैं। किसी वस्तु को देखकर जो भाव

उत्पन्न होता है, वह वस्तु तो उस भाव के उत्पन्न होने में एक निमित्त कारण है ऐसे ही भगवान् की मूर्ति भी निमित्त कारण है, वस्तुतः तारने वाली तो हमारी आन्तरिक भावना ही है परन्तु निमित्त के विना भावना नहीं आसक्ती, इसलिये भगवान् वीतराग की मूर्ति भी बड़ा भारी निमित्त कारण है जिस किसी को जैसा निमित्त प्राप्त होता है उसको वैसे ही भाव प्रगट हो जाते हैं ॥

मूर्तिपूजक तो शुभभाव आने से पुण्य उत्पन्न कर लेते हैं और मूर्तिनिन्दक भगवान् वीतराग की मूर्ति को देखकर भ्रकुटी को चढ़ाकर दुष्टभाव हृदय में लाने से पाप उत्पन्न कर लेते हैं अव आप तनिक सांसारिक व्यापार की ओर भी दृष्टि करें, कि वह भी मूर्ति विना कदाचित् नहीं चलसक्ता ॥

ढूंढिया- यह बात भी दृष्टान्त के साथ समझाएं, क्योंकि दृष्टान्त से बात हृदय में आरूढ़ होजाती है ॥

मन्त्री—जब किसी मकान को नीलाम या कुड़क कराना हो या किसी गृह आदि पर दावा करना हो तो उसका चित्र बनाकर न्यायालय में देना पड़ता है, क्या न्यायालय में वृत्तान्त सुनाकर चित्र के दिये विना कार्य्य नहीं चलसक्ता ? मान्यवर ! न्यायालय में यदि कहें कि चित्र की आवश्यकता नहीं, हम अपने मुख से सब वृत्तान्त समझा देते हैं, तो शीघ्र ही मुख पर चपेट लगती है, और धक्के भी मिलते हैं कि जाओ चित्र बनाकर लाओ, चित्र के विना कार्य्य का होना असम्भव है। और जब किसी को लम्बी यात्रा करनी हो तो

प्राय प्रथम ही रेलवे चित्र देख लिया जाता है कि अमुक मार्ग (लैन) कहा से पृथक् होता है अमुक नगर किस तरफ है विना चित्र के कुछ भी समझ में नहीं आता। और स्कूलों में भी लडके चित्र के आश्रय से नगरों का वृत्तान्त समझते है। आपको शुद्धचित्त होकर विचार करना चाहिये कि जब सासारिक काम भी मूर्त्ति के विना नहीं चलसक्ते तो उस परोक्ष परमात्मा का ध्यान मूर्त्ति के विना कैसे हो सक्ता है। और बडे शोक की बात यह है कि आप लोग अपने गुरु की समाधि को जिसमें कि केवल शिला और चूनें के विना और कुछ भी नहीं है, मस्तक झुकाते हैं और वहा पर प्रसाद बाटते है, किन्तु केवल परमात्मा वीतराग की मूर्ति के सन्मुख ही सिर झुकाना आपको व्यर्थ प्रतीत होता है, समाधि आदि का सत्कार तो किया जाता है परन्तु किस की शक्ति हे जो वहा पर जूता लेजाए॥

ढूंढिया—क्यो साहब! हम गुरु की समाधि पर जूता कैसे जानेदें। और इसका अपमान हम लोग कैसे कर सक्ते है।

मन्त्री—वीतराग परमात्माकी मूर्ति जो कि जगद्गुरुकी मूर्ति है, क्या इसी से द्वेष है? आप लोग वीतराग परमात्मा की मूर्ति का सन्मान क्यों नहीं करते, और इसे नमस्कार क्यों नहीं करते और निन्दा क्यों करते हो? यह तो केवल आपकी मूर्खता है मालूम होता है कि आपके गुरुओं का सयम भी नहीं है, क्योंकि उन में मान पाया जाता है और जिस स्थान में मान होता है वहा सयम नहीं रह सक्ता॥

ढूंढिया—हमारे गुरुओं में मान कैसे सिद्ध होता है।

मन्त्री—आपके गुरु अपने चित्र का सत्कार तो कराते हैं अपने चित्र का असन्मान कदापि सहार नहीं सक्ते, और आप लोग अपने गुरुओं की * समाधि की पूजा करते हैं इनके विद्यमान शिष्य ऐसी बुरी बात से आपको क्यों नहीं रोकते ?। और समाधियां बनानेके समय आप लोगों को क्यों न रोक दिया ? कि समाधि इत्यादि जड़ वस्तुओं को मत बनाओ ॥

वीतराग परमात्मा की मूर्ति के सन्मुख सिर झुकाने से तो निषेध करते हैं, प्रत्युत शपथ कराते हैं कि मन्दिरों में मत जाओ तो यह मान और ईर्षा नहीं तो और क्या है ? अब अधिक कहांतक कहा जाए आप को चाहिये कि पक्षपात छोड़ो और विद्या ग्रहण करो फिर आपको अच्छी तरह से ज्ञान होजाएगा कि मूर्तिपूजा के करने से कोई प्राणी भी शेष नहीं है। जो लोग कहते हैं कि हम मूर्तिपूजा को नहीं मानते वे लोग केवल मिथ्या बातें बनानेवाले हैं॥

ढूंढिया भाई निरुत्तर होकर शान्त होगया। तदनन्तर मन्त्रीजी मौलवी साहब की तरफ ध्यान देने लगे ॥

मन्त्री—क्यों जी मौलवी साहब ! आप भी मूर्ति को नहीं मानते ? ॥

---

* राजकोट और जगरावों में रूपचन्द की और फरीदकोट में जीवणमल की और अम्बाले में लालचन्दजी की समाधियां विद्यमान हैं। वहां पर ढूंढिये भाई आकर लड्डु बांटते हैं, और मस्तक झुकाते हैं। पाठकगणो ! यह मूर्तिपूजा नहीं तो और क्या है ? जिस साहिब को उक्त बात में संशय हो स्वयं देखकर निश्चय कर सकता है॥

मौलवी—अपराध क्षमा कीजिये, आपको कुछ भी समझ नहीं, ऐसे ही मन्त्री पदवी मिल गई, आप इस बात को नहीं जानते कि हमारा मत मूर्तिपूजक नहीं है। यह बात तो प्रत्यक्ष स्पष्ट है कि हम लोग हिन्दुजातिवत् मूर्तिपूजा नहीं करते। क्या पत्थर भी कभी खुदा हो सक्ता है? और कोई बुद्धिमान जड़ में परमात्मा की स्थापना कर सक्ता है? जो आप हमारे से ऐसी बातें पूछते हैं॥

मन्त्री—मौलवी साहब! इतना न घबराइये, तनिक धैर्य से सुनिए, हमारे पास यह पत्र का खण्ड है इस पर खुदा लिखा है क्या आप इस पत्रखण्ड पर अपना पाद स्थापित कर सक्ते हैं॥

मौलवी—रक्तमय आंखे करके कहने लगे, बड़े ही शोक की बात है कि आप ऐसे निर्भय होकर बुद्धि के प्रतिकूल कठोर अक्षर क्यों कहते हैं। क्या आपको परमात्मा का भय नहीं है, और मृत्युका भय नहीं है? आप मन्त्री पद को ग्रहण करके यह अभिमान हृदय कदापि न करिये कि प्रत्येक स्थान में हमारा आधिपत्य चल जाएगा, धर्म्म के लिए मरजाना कोई बड़ी बात नहीं॥

मन्त्री—वाह जी! वाह! शोक है। मौलवी साहब तनिक ध्यान तो दो, कि मैंने पूर्व क्या कहा और अब क्या कह रहा हूं। यद्यपि मैंने आपको बुरा भला नहीं कहा, केवल यही पूछा है कि क्या आप इस पत्रखण्ड पर अपना पाद स्थापित करसक्ते हो? जिस पर आप कपड़ों से बाहर होगये और बहुत क्रोध में आगए। अब तो आपही अपने मुख से जड़ वस्तु का सन्मान करने लग गए, यह क्या?

मौलवी—हमने कब जड़ मूर्तिका पूजन माना है ?॥

मन्त्री—क्या पत्र और मसी जड़ वस्तु नहीं है ?

मौलवी—हां हां ! जड़ नहीं तो और क्या हैं।

मन्त्री—मौलवी जी यदि ऐसा ही है तो पत्र और मसी आपस में एकत्रित होकर खुदा लिखा जाता है इस में पत्र और मसी के बिना और कोई तीसरी वस्तु नहीं है न तो इस में खुदा का हाथ है और न हि इस में खुदा का पाद है तो फिर आप को क्रोध कैसे आया ? ॥

मौलवी—हां जी हां ! बस इस में परमात्मा का नाम प्रत्यक्ष लिखा हुआ है इस पर हम पाद कैसे स्थापित कर सक्ते हैं ॥

मन्त्री—जब आप पत्र और मसी के द्वारा लिखे हुए परमात्मा के नाम पर अपने प्राणों को बलिदान करने लगे हैं तो परमात्मा की मूर्ति पर क्यों बलिदान नहीं होते। और आप कैसे कह सक्ते हो कि हम जड़ वस्तु को नहीं मानते। अच्छा मौलवी साहब एक बात आप और बतलाएं कि आप लोग माला के मणके गिनते हो कि नहीं ? ।

मौलवी—हां जी जरूर।

मन्त्री—माला के मणकों की जो विशेष संख्या नियत हैं इसमें जरूर कोइ कारण है जो यही प्रतीत होता है कि अवश्य किसी न किसी बात की स्थापना है। कई लोग कहते हैं कि खुदा के नाम एक सौ एक हैं—इसलिये माला के मणके १०१ रक्खे गए हैं। अभिप्राय

यह है कि कोइ न कोइ कारण विशेष संख्या नियत का अवश्य है। बस यह जो नियत कर लेना है इसी का नाम स्थापना है। बस जिसने स्थापना स्वीकार करली उसने मूर्त्ति अवश्य मानली, केवल आकार का भेद है। कोई किसी मूर्त्ति को मानता है और कोई किसीको परन्तु मूर्त्ति के विना निर्वाह किसी का भी नहीं हो सक्ता। इसलिए आप भी मूर्त्ति से पृथक् कदापि नहिं हो सक्ते। यह तो केवल आपकी अज्ञानता है। जब आप लकड़ी के या पत्थर के टुकड़ों में परमात्मा के नामकी स्थापना मानते हो तो इस नामवाले की स्थापना क्यों नहीं मानते।

मौलवी—जबकि परमात्मा का आधार ही नहीं है तो इसकी मूर्ति कैसे बन सक्ती है।

मन्त्री—कुरानशरीफ में लिखा है कि मैंने पुरुष को अपने आकार पर उत्पन्न किया। अथवा जिसने पुरुष के आकार की पूजा की उसने परमात्मा के आकार की ही पूजा की। और इससे प्रत्यक्ष सिद्ध है कि परमात्मा का आकार अवश्य है। कुरान की शिक्षा यह है कि खुदा फरिस्तों की कतार के साथ विशाल स्थान में आएगा और इसके सिंहासन को आठ फरिस्तों ने उठाया हुआ होगा। भला यदि परमात्मा मूर्त्तिमान् नहीं है तो इस के सिंहासन को आठ देवताओं के उठाने का क्या अर्थ है। और मूर्त्तिमान् आकार के विना हो भी नहीं सक्ता। और भी आप लोगों का मानना है कि परमात्मा एकादश अङ्गों

में सिंहासन पर बैठा हुआ है। अच्छा मौलवी जी तनिक यह तो बतलादें क्या आपने कभी हज भी किया है ?।

मौलवी—हज से तो स्वर्ग मिलता है, फिर काबा शरीफ का हज क्यों न करना चाहिए। मैंने तो दो वार किया है ॥

मन्त्री—क्योंजी वहां पर क्या वस्तु है इसका तनिक वर्णन करो।

मौलवी—हज मक्काशरीफ में होता है। वहां पर एक कृष्ण पाषाण है, जिसका चुम्बन किया जाता है और काबा के कोट की प्रदक्षिणा करते हैं।

मन्त्री—क्या यह मूर्त्तिपूजा नहीं है ?।

मौलवी—कदाचित् नहीं।

मन्त्री—पाषाण का चुम्बन करना और प्रदक्षिणा करना और वहां जाकर सिर झुकाना मूर्त्तिपूजा ही है ॥ मौलवी साहिब ! आप जो खुदा के घरका इस कदर सत्कार करते हो तो परमात्मा की प्रतिमा का सत्कार क्यों नहीं करते। और इसकी मूर्त्ति क्यों नहीं मानते। भला मौलवी जी यह जो ताज़िये निकाले जाते हैं यह बुत नहीं तो और क्या है ?। और जो आप काबा की ओर मुख करके निमाज़ पढ़ते हो, यह भी एक प्रकार की मूर्त्तिपूजा ही है।

मौलवी—काबा तो खुदा का घर है इसलिए हम उधर मुख करते हैं।

मन्त्री—क्या शेष स्थान ईश्वर से खाली हैं? तो आपका यह कथन कि परमात्मा सब स्थान में है, उड़ जाएगा।

मौलवी—काबा की तरफ हम इसलिए मुख करते हैं कि काबा खुदा का घर है—इस तरफ मुख करने से दिल प्रसन्न होता है और स्थिर रहता है।

मन्त्री—काबा तो एक परोक्ष वस्तु है, जो कि दूर से दृष्टि-गोचर नहीं होता, ईश्वर की मूर्त्ति का तो सन्मुख होने से और दृष्टिगोचर होने से ध्यान अधिक लगेगा, और स्थिर रहेगा। यद्यपि आप लोक जो नमाज़ पढ़ते हो यदि किसी ऐसे स्थान पर नमाज़ पढ़ा जाए कि जिस स्थान पर पुरुषों का आगे से चलने का संभव हो, तो आप लोक मध्य में लोटा अथवा वस्त्र वा और कोइ वस्तु रखलेते हैं ताकि नमाज़ में विघ्न न पड़ जाए, यह जो वस्त्र अथवा लोटा आदि स्थापना वस्तु रक्खी जाती है यह भी एक प्रकार की खुदा के लिए कैद है, मानो सम्भावना की हुइ वस्तु है। मौलवी साहिब! आप एक बड़ा दृढ़ प्रमाण और सुनिए, मूअल्लिफ़ किताब दिलबस्तान मुज़ाहिब अपनी पुस्तक में लिखते हैं कि मुहम्मद साहिब ज़ोहरा अर्थात् शुक्र की पूजा करते थे। मालूम होता है कि इस कारण से ही शुक्रवार को यवन पुरुष पवित्र जानकर प्रार्थना का दिन समझते हैं। और मुहम्मद साहिब का पिता मूर्त्ति की पूजा किया करता था। मौलवी साहिब! आपका कोई मततो ताजीया की पूजा

करता है और कोई कुरान की पूजा और कोई कबर की पूजा करता है। ऐ मौलवी साहिब ! आप तनिक पक्षपात को छोड़ कर ध्यान करें तो आप लोगों का भी मूर्त्तिपूजा के विना निर्वाह कदाचित् नहीं होगा। मौलवी साहिब लज्जित होकर चुप्प हो गए। मन्त्री जी फिर सिक्ख साहिब की ओर ध्यान देकर कहने लगे कि ऐ भाई साहिब ! आप मूर्त्तिपूजा को क्यों नहीं मानते ?।

सीक्ख—नहीं जी हम जड़ मूर्त्ति को किसी प्रकार भी नहीं मानते।

मन्त्री—क्यों जी भला आप गुरुनानक जी और गुरु गोविन्दसिंहजी की मूर्त्तिओं को देखकर प्रसन्न होते हैं या नहीं ?।

सीक्ख—भला साहिब, गुरु की मूर्त्ति देखकर पुरुष रुष्ट कैसे होसक्ता है। हम तो प्रसन्न होते हैं, क्योंकि इन्हों ने धर्म्म की रक्षा के लिए प्राणों की भी परवाह नहीं की है। और ऐसे ही गुरु नानक जी साहिब और गुरु गोविन्दसिंह जी जिनको कि भविष्य पुराण में भी अवतारों में माना है। भला इनके चित्र देखकर हम रुष्ट हो सक्ते हैं ?। और यदि रुष्ट होते हों तो द्रव्य खर्च करके इनके चित्र अपने मकानों में क्यों रक्खें ?। और चित्रकारों को रुपैया देकर इनके चित्र दीवारों पर क्यों बनवाएं ?।

मन्त्री—क्यों जी आप लोक अपने गुरुओं की मूर्त्तिओं के आगे शिर झुकाते हो या नहीं। और उनका सन्मान करते हो या नहीं ?।

सीक्ख—हां जी जरूर।

मन्त्री—मूर्त्ति के सन्मुख शिर झुकाना और उसका सन्मान करना क्या मूर्त्तिपूजा नहीं है?। मूर्त्ति के सन्मुख शिर झुकाना और उसका सन्मान करना मूर्त्तिपूजा ही है। कोइ किसी प्रकार करता है और कोई किसी प्रकार से करता है। कोई किसी आकार में मानता है और कोई किसी कोइ छुट नहीं सक्ता। आप लोक गुरुग्रन्थसाहिब को तो उत्तम २ वस्त्रों में लपेट कर चारपाई वा चोकी पर रखते हो और इसकी समाप्ति होने पर भोग पाते हो और इसके आगे धूपादि जला कर घण्टे बजाते हो और भी कई प्रकार के राग और शब्दादि इसके सन्मुख बोलते हो और भी कई प्रकार से इसकी पूजा करते हो, तो फिर आप मूर्त्ति-पूजा से कैसे छूट सक्ते हैं, क्योंकि यदि मूर्ति जड़ है तो ग्रन्थ साहिब भी कोई चैतन्य वस्तु नहीं है, वह भी तो केवल पत्र और स्याही मिलकर ही बना है कि जिसके नीचे रखने वाली चारपाई को भी आप लोक मंजा साहिब के नाम से कहते हो, अब आपको तनिक ध्यान देना चाहिए, कि आप जड़ की किस प्रकार पूजा करते हो।

भ्रातृगण! जब कि इसके साथ स्पर्श करने वाली वस्तु की पदवी इस प्रकार अधिक होजाती है तो परमात्मा की मूर्त्ति की पदवी सबसे अधिक क्यों न मानी जाए और इसकी पूजा क्यों न की जाए?।

सीक्ख—महोदय ! वह गुरुओं की वाणी है इसलिये हम इसका सन्मान और पूजा करते है ॥

मन्त्री—भाई जी ! जैसे आप लोग गुरुओं की वाणी या गुरु साहिब का सन्मान और पूजा करते हैं इसी तरह हम भी परमात्मा की मूर्त्ति का सन्मान और पूजा करते हैं। और जब कि आप गुरुओं और इनकी वाणी की प्रशंसा करते हैं तो फिर आप को परमात्मा की मूर्त्ति की भी जो कि गुरुओं की वाणी से भी अधिक पवित्र है, पूजा और सन्मान करना चाहिए, परन्तु आप साहिब उक्त वृत्तान्त से जड़ वस्तु की पूजा करते हुए भी मूर्त्तिपूजा पर आक्षेप करते है, सो अत्यन्त अयोग्य और समझ के प्रतिकूल है। अन्त में सीक्ख भाई तो निरुत्तर होकर चुप्प होगए, परन्तु एक आर्य्य साहिब मूछों पर हाथ फेर कर तत्-क्षण आगे बढ़े और इनके साथ मंत्री जी के निम्न लिखे हुए प्रश्नोत्तर हुए।

मन्त्री—क्यों महाशय जी भला आप मूर्त्तिपूजा को मानते हो या नहीं।

आर्य्य—नहीं श्रीमन् ! हम तो मूर्त्ति को कदापि नहीं मानते, क्योंकि मूर्त्ति तो जड़ है और जड़ से कोई लाभ भी प्राप्त नहीं हो सक्ता है।

मन्त्री—महाशय जी ! यह तो केवल कहने की मिथ्या वार्ता है कि हम मूर्त्ति को नहीं मानते है, यदि ईर्षाभाव को

छोड़ कर ध्यान किया जाए तो आप तो क्या ? लेकीन कोइ भी मत मूर्त्तिपूजा से किसी प्रकार से छूट नहीं सक्ता है। महाशय जी ! मुझे इस बात में सन्देह है कि आप भी इसाइ साहिबान की तरह तो नहीं कहते, जिनका यह कथन है कि हमलोग मूर्त्तिपूजक नहीं है वस्तुतः तो इनका एक रोमन कैथलिक मत भली प्रकार मूर्त्तिपूजक है, क्योंकि वह हजरत मसीह और मरिअमके चित्रों को गिर्जाघर में रख कर फल फूलादि चढ़ाते हैं और उनकी पूजा करते हैं और रूस के तो सर्व मतानुयायी मूर्त्तिपूजक है। तद-नन्तर मुअल्लिफ़ किताब दिल्लबस्तान मजाहिब अपने पुस्तक में लिखते हैं कि हजरत ईसामसीह सूर्य्य की पूजा करते थे और इसी वास्ते ईसाइ लोग आदित्यवार के दिनकों पूजा और सन्मान का दिन मानते हैं।

आर्य्य—नहीं श्रीमन् ! नहीं, भला हम स्वामी दयानन्दके अनुयायी होकर जड़की पूजा कर सक्ते है ? कभी नहीं। तीनों काल में यह वार्ता असम्भव है ॥

मन्त्री—महाशय जी ! मूर्त्तिपूजा जड़पूजा में सम्मिलित नहीं है क्योंकि मूर्त्तिपूजा जड़की पूजा नहीं हो सक्ती। प्रत्युत वह तो चेतन की पूजा होती है।

आर्य्य—श्रीमन् ! यदि एसे हो तो आप कोई दृष्टान्त देकर भली प्रकार समझा देवें।

मन्त्री—लो जी, जरा सावधान होकर सुनो, कि यदि कोई आर्य्यसमाजी किसी परम विद्वान् संन्यासी की प्रत्येक प्रकार

से सेवा करता है जब संन्यासी महाराज जी समस्त दिन ज्ञान ध्यान के कारण थक जाते है, तो समाजी उनकी टांगों और शरीर आदि को अत्यन्त दबाता है, महाशय जी ! अब आप बतलाइए कि उस आर्य्य समाजी को इस तरह दिन रात्रीकी परम भक्ति और सेवा से कुच्छ फल प्राप्त होगा या नहीं ? ।

आर्य्य—अजी क्यों नहीं, अवश्य प्राप्त होगा, क्योंकि यदि एसे महात्मा की सेवा करनेसे भी फल प्राप्त न होगा, तो और किसकी सेवासे फल प्राप्त होगा ।

मन्त्री—वाह ! जी वाह ! यह सेवा तो जड़ शरीर की थी और जड़की सेवा निष्फल होती है, तो फिर आप इस सेवा का फल कैसे मानते हो ? ।

आर्य्य—श्रीमन् ! विद्वान् का शरीर जड़ नहीं हो सक्ता, क्योंकि इसमें तो जीवात्मा विद्यमान है ।

मन्त्री—सत्य है, शरीर में जीवात्मा के होने से चेतन ही की सेवा मानी जाती है परन्तु सेवा तो वस्तुतः जड़शरीर की ही की जाती है, जीवात्मा की नहीं, और इसी तरह मूर्त्ति-पूजा में भी जानना चाहिए, अथवा जैसे विद्वान् के शरीर में जीवात्मा माना जाता है, वैसे ही मूर्त्ति में भी आपके मत के अनुसार ईश्वर माना जाता है क्योंकि ईश्वर सर्व व्यापक है ऐसा आप कहते हैं, इसवास्ते मूर्त्ति में भी ईश्वर का होना अवश्य है, इससे सिद्ध हुआ कि मूर्त्तिपूजा जड़पूजा नहीं है, क्योंकि

मूर्त्तिपूजा करते समय प्रत्येक मतके भक्त यही प्रार्थना करते हैं कि हे सच्चिदानन्द ! ज्योतिः स्वरूप ! हे ईश्वर ! हे परमात्मन् हे वीतराग ! हे देवेश ! हे परमब्रह्म भगवन् ! हम को अपनी कृपा करके इस संसार सागर से पार करो। और ऐसे तो कोई भी नहीं कहता है कि हे जड़ पत्थर ! वा अयि मूर्त्ते ! तूं हमको इस संसार समुद्र से पार कर अथवा हमारा कल्याण कर। इससे स्पष्ट है कि पूजा मूर्त्ति वाले की होती है और मूर्त्ति से तो केवल इस मूर्त्ति वाले का अनुभव होता है, या ऐसे कह सकते हैं कि जैसे विद्वान् की सेवा में विद्वान् का शरीर ही एक कारण होता है, वैसे ही मूर्त्ति वाले की सेवा वा पूजा में मूर्त्ति भी कारण होती है। और जैसा कि शरीर के विना केवल अकेले जीवात्मा की सेवा असम्भव है क्योंकि जीवात्मा निराकार वस्तु है, वैसे ही ईश्वर परमात्मा की सेवा या पूजा भी जो कि जीवात्मा से बहुत सूक्ष्म है मूर्त्ति के विना कदाचित् नहीं हो सक्ती है।

आर्य्य—भला सच्चिदानन्द की सेवा में जड़को कारण बनाने की क्या आवश्यकता है, क्या वेदकी श्रुतिओं से मूर्त्ति के विना ईश्वर की प्रशंसा और पूजा [illegible] हो सक्ती है ?।

मन्त्री—वाह ! साहब ! [illegible]या वेदकी श्रुतिएं चैतन्य हैं ? वह भी तो जड़ अक्षरों का समूह ही है। इस प्रकार से ईश्वर-पूजा का कारण जड़ ही सिद्ध हुआ।

आर्य्य—श्रीमन् ! हम उन जड़ अक्षरों से ईश्वर ही का जाप करते हैं।

मन्त्री—महाशय जी! हम भी तो मूर्त्ति द्वारा ईश्वर के स्वरूप को ही स्मरण करते हैं। अथवा जैसे आपनें जड़ अक्षरों में ईश्वर का जप किया ऐसे ही हमने भी ईश्वर की जड़मूर्त्ति द्वारा ईश्वर के स्वरूप को स्मरण किया। भाई साहब! बात तो एक ही है। आप को भी मौलवी साहब की तरह चक्कर खाकर स्थान पर आना ही पड़ेगा या मूर्त्तिपूजा को मानना ही पड़ेगा।

आर्य्य—अच्छा जी, हम वेदकी श्रुतिओं को भी न पढ़ा करेंगे और केवल अपने मुख से ईश्वर की सेवा और प्रशंसा किया करेंगे कि हे परमात्मन्! तूं ऐसा है और कहा करेंगे कि हे परमात्मन्! तूं हमको तारदे इत्यादि तो फिर इसमें क्या हरकत है?।

मन्त्री—वाह साहब! आपके ऐसे कहने से तो यह सिद्ध होता है कि आप विद्या से रहित हैं क्योंकि केवल विद्या के प्रभाव से जो कुच्छ मुख से बोला जाए उसे पद कहते है और कइ अक्षरों के मिलने से पद बनता है तो फिर आपने जो कहा कि ऐसा तूं है तूं ऐसा है तूं हमको तारदे इत्यादि, क्या पद नहीं हैं? और क्या जड़ नहीं है? सर्व पद चाहे किसी की भाषा के क्यों न होवें, जड़ही कहलाएंगे। इससे सिद्ध हुआ कि ईश्वर की प्रशंसा और उपासना करना जड़के विना ग्रहण करने के असम्भव है, क्योंकि यदि आप जड़के विना कारण ईश्वर की उपासना करना चाहोगे तो आपको हूं, हां, कौन, और क्यों,

आदि पदों को त्याग कर मूक बनकर मोक्ष मार्ग को सिद्ध करना पड़ेगा।

आर्य्य—माना कि पद जड़ हैं परन्तु इनसे हम प्रशंसा तो सच्चिदानन्द की ही करते हैं।

मन्त्री—महाशय जी! निस्सन्देह इस प्रकार से तो हम भी मानते हैं कि मूर्त्ति जड़ पदार्थ है परन्तु इसके कारण से हम मूर्तिवाले ईश्वर की पूजा करते हैं या हमारी प्रार्थना भी मूर्त्ति के कारण से ईश्वर परमात्मा की ही होती है। इसलिए मूर्त्तिपूजा से आपको विरुद्ध होना योग्य नहीं है क्योंकि तत्त्वपदार्थ के प्राप्त करने में जड़ भी कारण हो सक्ता है। अच्छा अब आप यह बतलाइए कि यदि किसी महर्षि का शुद्धभाव से दर्शन किया जाए तो इसका फल अच्छा प्राप्त होगा कि नहीं?।

आर्य्य—अजीं क्यों नहीं, अवश्य अच्छा फल प्राप्त होगा

मन्त्री—अब आप यह बतलाएं कि महात्मा जी के जीवात्मा का दर्शन हुआ या जड़ शरीर का? तो इसके उत्तर में आपको कहना पड़ेगा हि अरूपी जीवात्मा का तो दर्शन नहीं हो सक्ता, महात्माजी के शरीर का ही दर्शन हुआ। अब ध्यान करना चाहिए कि यदि मनुष्य जड़ शरीर के देखने से पुण्य उत्पन्न कर सक्ता है तो क्या परमात्मा की निर्दोष मूर्त्ति से पुण्य-बंधन नहीं कर सकेगा? अवश्य प्राप्त कर सकेगा॥

आर्य्य—श्रीमान्! महर्षि का दृष्टान्त तो मूर्त्ति से कदाचित् सम्बन्ध नहीं रखता है क्योंकि महर्षि जी के दर्शन से तो इस

वास्ते पुण्य होता है कि वह हमको शिक्षायुक्त बातों का उपदेश करते हैं जिस पर वर्ताव करने से हम बहुत कुच्छ लाभ उठा सक्ते है परन्तु मूर्त्ति हमको कुच्छ भी उपदेश नहीं कर सक्ती और नही कोइ लाभ देसक्ती है, इसलिए मूर्ति का मानना ठीक नहीं है।

मन्त्री—महाशय जी ! आपका यह कथन सत्य है कि महर्षि जी अच्छी बातें ओर अच्छा उपदेश सुनाते है, जिससे हमें लाभ होता है, परन्तु आप यह तो बताओ कि यदि हम महर्षि जी के कहने पर वर्ताव न करें तो क्या महर्षि जी के दर्शन से हमें कोइ लाभ या फल मिल सक्ता है ? कदाचित् नहीं। क्योंकि यदि महर्षि जी के कहने पर ध्यान और वर्ताव ही न किया जाएगा और इनकी बातों पर निश्चय भी नहीं किया जाएगा तो केवल महर्षि जी के मुख देखने से तो हमारा कल्याण कदापि नहीं हो सकेगा, इससे सिद्ध हुआ कि फलका प्राप्त करना न करना हमारे ही आधीन है। और जबकि हमको निश्चय दिलाने और वर्ताव करने से ही शिक्षा मिल सक्ती है तो फिर इसमें महर्षि जी की क्या बड़ाई हुई क्योंकि फलका प्राप्त करना हमारे ही हाथ में है, इसवास्ते हम अपनी भावना करके मूर्त्ति से भी अवश्य अच्छा फल प्राप्त कर सक्ते हैं। हम वीतराग ईश्वरमूर्त्ति की वीतराग आकृति को देख कर वीतराग बनने की इच्छा वा यत्न करें, और उनके गुणों का स्मरण करे, और उनके गुणों को ग्रहण करके रागद्वेष के परिणाम को रोकें, तो

निस्सन्देह मूर्त्ति हमें तारने वाली होती है। आप भी इस बातको ऊपर मान चुके हैं कि यदि हम शिक्षा मानकर इस पर वर्ताव करेंगे तो हमारा ही लाभ होगा॥ और सुनिए मैं आपको एक दृष्टान्त सुनाता हूं और यह सिद्ध करके दिखलाता हूं कि कइ एक चैतन्य पुरुषों से भी हमें इतना लाभ नहीं प्राप्त हो सक्ता जितना कि जड़ वस्तु से, यथा एक मनुष्य जोकि बड़ा विद्वान् है और ऐसी अच्छी २ शिक्षाएं दे रहा है कि जिनका वर्णन करना शक्ति से बाहिर है परन्तु इसको अपने मत का उपदेश न समझने से या इसका वर्णन अपने मतके प्रतिकूल देखने से और इसके वचनों पर निश्चय न करने के कारण हम इसके उपदेश पर वर्ताव नहीं करते, प्रत्युत ऐसा ध्यान करते हैं कि एसे मूर्ख प्रायः उपदेशक फिरते ही हैं, अब आपही बतलाइए कि क्या इस चैतन्य से हमारा कल्याण हो सक्ता है? कदाचित् नहीं होसक्ता, और यदि हम इससे घर बैठे ही अपने मतके जड पुस्तकों को विचारें वा पढें और इसकी बातों पर अपना धर्म्मशास्त्र होनेके कारण निश्चय करके यथाकथन पर वर्ताव करें तो निस्संदेह उस जड़ पुस्तक से हमको बहुत कुछ लाभ प्राप्त होसक्ता है। अब आपही न्याय से कहें कि चैतन्य लाभ देने वाला हुआ कि जड़ शास्त्र?। आपका यह कहना 'कि जड़से कुच्छ लाभ प्राप्त नहीं होसक्ता' प्रत्युत व्यर्थ और मिथ्या सिद्ध हुआ॥

आर्य्य—हां साहब! आपकी युक्ति तो वस्तुतः सत्य है परन्तु इसमें केवल इतना ही संदेह है कि निराकार ईश्वर का

आकार कैसे बन सक्ता है।

मन्त्री—महाशयजी ! आप यदि ध्यान से विचार करेंगे तो अवश्य समझ जायेंगे, कि निराकार साकार भी होसक्ता है आपके कथनानुकूल ईश्वर निराकार है परन्तु साकार वाले ओंकार शब्द में ही इसका समावेश हो जाता है और देखें आप जो सदैव काल कहा करते हैं कि ईश्वर सर्व व्यापक है और वह परिच्छिन्न मूर्त्ति में कदापि नहीं आसक्ता है, अब सोचना चाहिए कि जब सर्वव्यापक ईश्वर एक छोटे से ओंकार शब्द में समा सक्ता है तो क्या वह मूर्त्ति में नहीं समा सक्ता ?। और जब कि एक छोटासा ओंकार शब्द सर्वव्यापक ईश्वर का बोध करा सक्ता है तो फिर मूर्त्ति क्यों न करा सकेगी ? जैसे कि निराकार ईश्वर ओंकार के स्वरूप में ही लिखा या माना जाता है, तथैव यदि पत्थर या धातुकी मूर्त्ति में भी इसकी स्थापना मानली जाए, तो क्या हानि की बात है। ईश्वरज्ञान निस्संदेह निराकार है ऐसा भी आप मानते हैं और देखें साकार जड वेदों में भी ईश्वर का ज्ञान मानते हो, भला यह स्थापना नहीं तो और क्या है ?। इसलिए आपको ऐसा तो अवश्य ही मानना पड़ेगा कि निस्सन्देह परमात्मा के निराकार ज्ञान की साकार वेदोंमें स्थापना की हुई है और ईश्वर परमात्मा का ज्ञान निःसंदेह अनन्त है, परन्तु प्रमाणवाले शास्त्रों में तो इसकी स्थापना करनी ही पडती है, अथवा कहना पडता है कि वेदों में परमात्माका ज्ञान है*। इस प्रकार यदि निराकार ईश्वर की प्रतिमा बनाली

जावे तो क्या दोष है ?। और सुनिए, कि आर्य्यप्रतिनिधिसभा पंजाब के बनाए हुए जीवनचरित्र स्वामी दयानन्दजी के पृष्ठ ३५९ में लिखा हुआ है कि ईश्वर का कोई रूप नहीं है, परन्तु जो कुच्छ इस संसार में दृष्टि गोचर हो रहा है वह इसी का ही रूप है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि मूर्त्ति भी परमात्मा का रूप है जब कि संसार की सर्व साकार वस्तु परमात्मा का रूप है तो क्या मूर्ति परमात्मा के रूपसे पृथक् रहगई ?।

आर्य्य—यह बात तो आपकी सत्य है परन्तु जड़की पूजा करने से चेतन का ज्ञान कदापि नहीं हो सक्ता है।

मन्त्री—महाशय जी! यदि ऐसा माना जाए तो जड़ वेदों से भी चेतन ईश्वर परमात्मा का ज्ञान न होना चाहिए, परन्तु आपका विश्वास है कि वेदों से ईश्वर परमात्मा का ज्ञान प्राप्त होता है इसलिए सिद्ध हुआ कि जड़ पदार्थ से चेतन का ज्ञान ज्ञात हो सक्ता है।

आर्य्य—भला यदि कोई तुम्हारी मूर्त्तिओं के भूषण चुरा कर लेजाए या मूर्त्तिको तोड़ देवे या निरादर करे तो वह मूर्त्ति इसका कुच्छ नाश नहीं कर सक्ती है, तो फिर हमको वह क्या लाभ पहुंचा सक्ती है ?॥

---

* आर्य सिद्धांतानुकूल यह लिखा है, जनों को मान्य नहीं है॥

मन्त्री—महाशय जी ! यदि आप ऐसा मानते हो तो फिर तो आपको ईश्वर परमात्मा को भी न मानना चाहिए, क्योंकि बहुत से नास्तिक लोग ईश्वर को नहीं मानते, प्रत्युत भला बुरा कहते हैं कि ईश्वर कौन है और क्या वस्तु है इत्यादि । परन्तु ईश्वर परमात्मा इनका कुछ नहीं कर सक्ता । इसलिए तुम्हारे विश्वास के अनुसार तो ईश्वर को भी न मानना चाहिए, और क्या ईश्वर परमात्मा पहिले न जानता था कि यह पुरुष मेरी बहुत निन्दा करेगा तो फिर ईश्वर भी बहुत मूर्ख है जो जान बूझकर अपने शत्रु उत्पन्न करता है और यदि नहीं जानता था तो ईश्वर ब्रह्मज्ञानी न रहा । महाशयजी ! ऐसा मानने से तो आपके ईश्वर पर कई तरह के आक्षेप होसक्ते हैं, परन्तु वस्तुतः तो केवल इतनी बात है कि जो कुच्छ होता है सब अपनी ही भावनासे होता है, इस लिए मूर्त्ति के भूषण चुराने या तोड़ने ओर मूर्त्तिका खण्डन करनेवाले को तो इसके संकल्प के अनुसार वैसा ही फल मिलता है, और ईश्वर परमात्मा के आदेश के प्रतिकूल चलने या निन्दक और न मानने वाले को इनकी भावनानुकूल वैसाही फल मिलता है ।

आर्य्य—श्रीमन् ! मूर्त्ति तो अपने ऊपर से मक्षिका तक भी नहीं उडा सक्ती तो दूसरों को इसकी भक्तिसे क्या लाभ हो सक्ता है ? ।

मन्त्री—वाह ! जी वाह ! अच्छा सुनाया, आपके वेद भी तो जड़ हैं जो कि मूर्त्ति की तरह अपने ऊपर से मक्खी भी नहीं

उड़ा सक्ते जिनसे कि आप परमपद मुक्तिका फल प्राप्त करना मान रहे हो, यदि कहोगे कि वेदों से तो ज्ञान प्राप्त होता है तो हम यह पूछते हैं कि क्या वेद स्वयं ज्ञान कराने में समर्थ हैं या पुरुष अपनी बुद्धि से प्राप्त कर सक्ता है? यदि कहोगे कि वेद स्वयं ही ज्ञान कराने में समर्थ हैं तो आपका यह कहना कदापि सत्य नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा ही हो तो मूर्ख पुरुष भी अपने पास वेद रखने से वेदो के ज्ञान से योग्य होजाय, परन्तु ऐसा कदापि देखने में नहीं आता है, क्योंकि वेदों को पास रखने वाले तो सहस्रों है परन्तु उनके समझने वाले सैंकड़ों में से केवल एक या दो ही निकलेंगे। और यदि कहोगे कि अपनी बुद्धि से ही ज्ञान प्राप्त होता है तो ऐसे तो मूर्त्ति से भी ज्ञान प्राप्त होसक्ता है, जैसा कि हाथी की मूर्त्ति देखकर उस पुरुष को जिसने कभी हाथी नहीं देखा था, हाथी का ज्ञान हो जाता है कि हाथी ऐसा ही होता है। और यदि केवल इसको हाथी का नाम ही बतलाया जावे तो इसको हाथी का ज्ञान प्राप्त न होगा कि हाथी कैसा होता है। इस दृष्टान्त से भी सिद्ध होता है कि मूर्त्ति अवश्य माननी चाहिए। और भी तुम्हारे गुरु स्वामी दयानन्दजी के बनाए हुए सत्यार्थप्रकाश से सिद्ध होता है कि मूर्त्ति अवश्य माननी चाहिए।

आर्य्य—हां! आपने तो यह आश्चर्ययुक्त बात सुनाई, भला यह बात होसक्ती है कि हमारे स्वामी जी मूर्त्ति का मानना लिखें? कदापि नहीं।

मन्त्री—आप क्यों व्याकुल होते हैं, यदि हमारे कहने पर

आपको विश्वास नहीं आता, तो सत्यार्थप्रकाश के पृष्ठ ३७ पर देखलो। जहां अग्निहोत्र की विधि और इसके सम्बन्ध में आवश्यक सामग्री का व्याख्यान किया है। इतनी लम्बी चौड़ी चौकोन वेदी और ऐसा प्रोक्षणी पात्र और इस प्रकार का प्रणीतापात्र और इस प्रकार की आज्यस्थाली और इस नमूनें का चिमचा बनाना चाहिए अब तनिक ध्यान करो कि यदि स्वामीजी मूर्त्ति को नहीं मानते थे तो वह अपने सेवकों को चित्र के बिना उक्त स्वरूपों को क्यों न समझा सके।

आर्य्य—श्रीमन्! हम इन चित्रों को निश्चय करके वेदी इत्यादिक तो नहीं मानते, हम तो केवल इन चित्रों को असली वेदी इत्यादि के ज्ञान होने में निमित्त मानते हैं॥

मन्त्री—हम भी तो ऐसा ही कहते हैं कि मूर्त्ति ईश्वर तो नहीं परन्तु ईश्वर के स्वरूपका स्मरण कराने में कारण है।

आर्य्य—वेदी इत्यादि वस्तु तो साकार है इनका चित्र बनाना तो योग्य है परन्तु ईश्वर हृदय में चिन्तनीय है, इस वास्ते इसकी मूर्त्ति कैसे बन सक्ती है?।

मन्त्री—यदि आप ईश्वर को हृदय मात्रसे चिन्तनीय और अरूपी मानते हैं तो ओम् पदका सम्बन्ध ईश्वर के साथ न रहेगा क्योंकि ओम् पद रूपी है और ईश्वर अरूपी है तो फिर इस पदके ध्यान और उच्चारण से आपको क्या लाभ होगा?

आर्य्य—जिस समय हम ओं पदका ध्यान और उच्चारण करते

हैं उस वक्त हमारा आन्तरिक भाव जड़रूप ओं शब्द में नहीं रहता है प्रत्युत उस पदके वाच्य, ईश्वर में रहता है।

मन्त्री—जब कि आपका भाव 'वाचक' ओं पदको छोड़ कर 'वाच्य' ईश्वर में रहता है तो फिर आपको 'वाचकपद' ओं की क्या आवश्यकता है ?।

आर्य्य—श्रीमन् ! ओं पदकी आवश्यकता इस वास्ते है कि ओं शब्द के बिना ईश्वर का ज्ञान नहीं होता।

मन्त्री—जिस प्रकार ओं पदकी स्थापना के विना ईश्वर का ध्यान नहीं होसक्ता इसी तरह मूर्त्ति के विना ईश्वर का ज्ञान भी नहीं होसक्ता, क्योंकि जब तक मनुष्य को केवलज्ञान नहीं होता, तब तक मूर्त्ति के दर्शन विना ईश्वर के स्वरूप का बोध होना असम्भव है, और यह वर्णन पीछे भी हो चुका है कि एक आदमी ने तो हाथी को देखा है और दूसरे ने केवल नाम सुना है परन्तु असली हाथी कदापि नहीं देखा है अब देखना चाहिए कि दूसरे आदमी को जिसने केवल हाथी का नामही सुना है, जब तक हाथी की प्रतिमा इसको न दिखाई जावे तब तक असली हाथी का ज्ञान इसको कदापि नहीं हो सक्ता। इसीतरह हम तुमने भी ईश्वर का केवल नाम ही सुना है, परन्तु देखा नहीं, इसलिए ईश्वरमूर्त्ति के विना ईश्वर का ज्ञान कदापि नहीं होसक्ता। यदि आप कहेंगे कि मूर्त्ति बनानेवालेने ईश्वर को कब और कहां देखा था तो आपका यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि नकशे को बनाने वाले ने क्या सर्व देश शहर कसबे

ग्राम समुद्र नदी इत्यादि देखे भाले होते हैं ? कदापि नहीं। जिसतरह नकशा बनानेवाले ने सर्व देश इत्यादि नहीं देखे होते परन्तु इसके बनाए हुए नकशे के देखनेवालों को सर्व देश नगर इत्यादि का ज्ञान होजाता है, इस प्रकार मूर्त्ति में भी समझना चाहिए कि मूर्त्ति बनानेवाले ने ईश्वर को नहीं देखा है परन्तु इस मूर्त्ति के देखने से हमको ईश्वर का ज्ञान प्राप्त होता है।

आर्य्य—क्यों साहिब ! जब शास्त्रों से ही ईश्वर का ज्ञान प्राप्त होसक्ता है तो फिर मूर्त्ति की क्या आवश्यकता है ? ।

मन्त्री—महाशयजी ! आपका यह कहना भी व्यर्थ है। देखिये, एक आदमी को तो बम्बइ के वृत्तान्त से ऐसे सावधान किया जाए कि इस नगर का अमुकद्वार तो पूर्व की तरफ और अमुकद्वार पश्चिम की तरफ है और अमुक गृह स्टेशन से अमुक दिशा में है इत्यादि २ और दूसरे मनुष्य को बम्बई नगर का चित्र भी दिखाया जाए, और वृत्तान्त भी सुनाया जाए तो आप ही कथन करिए कि बम्बई नगर का अतिज्ञान किस मनुष्य को हुआ। अवश्य कहना पड़ेगा कि समाचार सुनकर चित्र देखनेवाले को अधिक ज्ञान हुआ।

आर्य्य—क्यों जी ! यदि आप पत्थर की मूर्त्ति को देखने से शुभ परिणाम का आना मानते हो तो इसके जड़ता के भाव भी आप में अवश्य आजाएंगे। और जब बुद्धि पत्थर होजाएगी तो आप भी पाषाणवत् जड़ होजाएंगे।

मन्त्री—अहहह ! आपकी बुद्धि और तर्क का क्याही कहना

है, तनिक आंख तो खोलो कि अतिमूर्ख भी जानता है कि स्त्री की प्रतिमा देखकर काम तो निःसंदेह उत्पन्न होता है किन्तु वह मनुष्य स्त्री नहीं बनजाता है। इस प्रकार वीतरागदेव की शान्तदान्त मूर्त्ति को देखकर शान्तदान्त तो हो सक्ते हैं न कि जड़ बनजाते हैं। और यदि आपका भाव ऐसाही है तो फिर तो तुम भी जड़रूप ओं शब्द के देखने से जड़ बन सक्ते हो और आपने तो अनेक वार ओं शब्द को देखा होगा, परन्तु जड़ न हुए।

आर्य्य—नहीं जी, आपका कहना असत्य है, क्योंकि ओं शब्द के देखने से तो हमको परमात्मा का स्मरण होता है॥

मन्त्री—महाशय जी! इसतरह से हमको भी मूर्त्ति के देखने से ईश्वर परमात्मा स्मरणमें आते हैं, और यह प्रख्यात नियम है कि कोई कार्य्य कारण के विना कदापि नहीं होसक्ता, इस प्रकार भाव भी कारण के विना उत्पन्न नहीं होसक्ता।

आर्य्य—श्रीमन्! सुनिए, मूर्त्ति के विषय में और भी एक बड़ा भारी आक्षेप है कि मूर्त्ति तो जड़ होती है फिर उस जड़ मूर्त्ति से चेतन ईश्वर का ज्ञान कैसे होसक्ता है?।

मन्त्री—महाशयजी! हम जड़मूर्त्ति से चेतन का काम नहीं लेते, क्योंकि परमात्मा की मूर्त्ति तो 'जोकि जड़रूप है' केवल अच्छे भावों को उत्पन्न करनेवाली है। और शास्त्र और मूर्त्ति आपस में जुगराफ़िया और चित्रवत् सम्बन्ध रखते हैं क्योंकि शास्त्र तो जुगराफ़िए की तरह वैराग्य भाव और ईश्वर के स्वरूप को वर्णन करने वाला

और मूर्त्ति ही इसकी प्रतिमा बनाई हुई है जैसे कि शास्त्र जड़ हैं परन्तु अच्छे भावों के उत्पन्न करने वाले हैं, तथैव मूर्त्ति भी निस्सन्देह जड़ है परन्तु अच्छे भावों को 'जिन से ईश्वर का ज्ञान होता है, उत्पन्न करनेवाली है। और संसार में ऐसा कोइ भी मत नहीं है जोकि मूर्त्ति को किसी न किसी तरह न मानता हो या पूजा न करता हो। यदि किसी मतानुयायी पुरुष आकार वाली मूर्त्ति को न मानते होंगे और उसका सन्मान न करते होंगे, तो वे वेद कुराण अंजील इत्यादि अपनी पवित्र पुस्तकों को 'जोकि आकारवाली है, अवश्य मानते और सन्मान करते होंगे।

आर्य्य—श्रीमन्! क्योंकि मूर्त्ति जड़ है, इसलिए इसकी उपासना से मनुष्य भी जड़ होजाएगा।

मन्त्री—बड़े शोक की बात है कि मैं अनेक युक्तिओं से इस बात को सिद्ध कर चुका हूं, परन्तु आप वारंवार वह ही प्रश्न करते हैं। अच्छा और भी दो चार दृष्टान्तों से आपको समझाता हूं कि जड़ पदार्थकी पूजा से मनुष्य जड़ नहीं होसक्ता, प्रत्युत इस बात के विरुद्ध जड़ पदार्थों से बहुत लाभ प्राप्त होते हैं। देखिए, कि ब्राह्मी नामकी बूटी एक जड़ पदार्थ है, परन्तु इसके खाने से चेतनता बढ़ती है, इससे सिद्ध हुआ कि जड़ में भी ज्ञान को बढ़ाने की शक्ति है। और देखिए कि किसी वक्त जड़ चेतन से भी अधिक लाभ पहुंचा सक्ती है, यथा आत्मा का ज्ञान गुण है, इसलिए पदार्थोंको आत्मा ही देख सक्ता है परन्तु फिर भी आत्माको चक्षु आदि इन्द्रियों की सहायता की आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि जब चक्षुः किसी

हेतु से नाश हो जाते हैं तो पदार्थों का दर्शन नहीं होसक्ता, अब ध्यान करना चाहिए कि पदार्थों का दर्शन क्यों नहीं होता, क्या देखने वाला आत्मा विद्यमान नहीं ?, कहना ही पड़ेगा कि आत्मा तो अवश्य विद्यमान है परन्तु सहायक चक्षुओं के नाश होजाने से पदार्थों का दर्शन नहीं होता है अब आप ही न्याय से कहें, कि जड़का कितना प्रभाव है कि जिसके न होंने के कारण आत्मा भी पदार्थों को नही देख सक्ता है। लो और सुनो कि आंखें सचेतन के होने पर भी अपने आपको नहिं देख सक्ती हैं, परन्तु जब आदर्श सन्मुख किया जावे तो शीघ्र ही आंखें अपने आपकों देख लेती हैं, या ऐसे कहो कि अपनी आंखें आपको नज़र आने लग पड़ती हैं, देखिए कि इस जगह हमको जड़ रूप आदर्श किस प्रकार लाभ पहुंचाता है ऐसे ही मूर्त्ति भी ईश्वर परमात्मा का बोध करा सक्ती है। और भी देखिए कि मनुष्य अपने देखने की पूर्ण शक्ति होने पर भी एक आध मील से ज्यादा दूर कदापि नहीं देख सकता परन्तु दूरबीन लगाकर देखा जाए तो दस २ मील से भी अधिक दूर की वस्तु दृष्टि गोचर होती है, अब देखना चाहिए कि दूरबीन एक जड़-पदार्थ है परन्तु इस में कितनी शक्ति है और कितना लाभ देने वाली वस्तु है। हे प्यारे ! न्याय की दृष्टि से तो मेरी इन युक्तिओं और प्रमाणों से आपको मानलेना चाहिए कि मूर्त्तिपूजा वस्तुतः ठीक है।

आर्य्य—हां साहिब ! अब मैं इस बात को तो स्वीकार करता हूं कि मूर्त्ति अवश्य माननी चाहिए और यह बात भी कि निराकार ईश्वर परमात्मा की मूर्त्ति बन सक्ती है। आपने ऊपर की युक्तिओं से

ठीक २ सिद्ध करके बतला दिया है। अब प्रश्न केवल इतना ही है कि आप वेदों के मन्त्रों (प्रमाण) से इस बात को सिद्ध करके बतलाएं, क्योंकि वेदों पर हमें अधिक विश्वास है।

मन्त्री—लो साहिब! आपके कथनानुसार अब मैं आप को वेद की श्रुतिओं से ही यह बात सिद्ध करके दिखलाता हूं तनिक ध्यान देकर सुनिए, यजुर्वेद १६ अध्याय के ४९ मन्त्र में मूर्त्तिपूजा सिद्ध है यथा—

(यात्ते रुद्र शिवातनूरघारापापकाशिनी)

अर्थ—हे रुद्र! तेरा शरीर कल्याण करने वाला है सौम्य है और पुण्यफल देने वाला है।

देखो यजुर्वेद के तृतीय अध्याय के ६ मन्त्रमें ऐसा लिखा है, यथा—

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्द्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान् मृत्योर्मुक्षीयमामृतात्॥

तथाच निरुक्तम्। अ० १३ पा० ४ खण्ड—

त्रीणि अम्बकानि यस्य स त्र्यम्बको रुद्रस्तं त्र्यम्बकं यजामहे (सुगन्धिं) सुष्ठुगन्धिम् (पुष्टिवर्द्धनम्) पुष्टिकारकमिवोर्वारुकमिव फलं बन्धनादारोधनात् मृत्योः सकाशान्मुञ्चस्व मां कस्मादित्येषामितरैषा पराभवति।

अर्थ—इस मन्त्रका महीधर ने भी यही भाष्य किया है, इसका सीधा २ अक्षरार्थ यही है कि तीन नेत्रों वाले शिवजी की पूजा हम

करते हैं सुगन्धित पुष्टिकारक पका खरबूजा जैसे अपनी लता से पृथक् हो जाता है उसी तरह हमको मृत्यु से बचाकर मोक्षपद की प्राप्ति कराइए। इति।

देखिए, इस श्रुति से ईश्वर शरीरधारी सिद्ध होता है क्योंकि नेत्रों का होना शरीर के बिना असम्भव है, परन्तु स्वामि दयानन्द-जीने त्र्यम्बकं पदका अर्थ तीन लोक की रक्षा करने वाला लिखा है, परन्तु इस पदका यह अर्थ किसी प्रकार से भी नहीं होसक्ता है। और देखिए मनुस्मृति के चतुर्थ अध्याय के १२५ श्लोक में भी लिखा है। यथा—

मैत्रं प्रसादनं स्नानं दन्तधावनमञ्जनम्।
पूर्वाण्ह एव कुर्वीत देवतानाञ्च पूजनम्॥

इसका यह अर्थ है शौचादि स्नान और दातन आदि का करना और देवताओं का पूजन प्रातःकाल ही करना चाहिए। देखिए यहां भी देवताओं की पूजा से मूर्त्तिपूजा सिद्ध होती है। यथा—

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्य्याद्देवर्षि पितृतर्पणम्।
देवताऽभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च॥

अर्थ—नित्यप्रति स्नान करके प्रथम देव, ऋषि तथा पितरोंका तर्पण अपने गृह्योक्त विधि से करे, तदनन्तर शिवादि देव प्रतिमाओं का अभ्यर्चन नाम सम्मुख पूजन करे तिसके बाद विधि पूर्वक समि-दाधान कर्म्म करे। यहां देवताभ्यर्चन पदसे माता पिता गुरु आदि किसी मनुष्य का आदर सत्कार इसलिए नहीं लिया जासक्ता कि इसी

मनु के द्वितीयाध्याय में माता पिता गुरु आदि मान्यों की पूजा, आदर, सेवा, पृथक् २ कही है। अग्निहोत्र का विधान सस्त्रीक गृहस्थ के लिए है, अग्निहोत्र के स्थान में ब्रह्मचारी के लिए समिदाधान कर्म है। पाणिनीय अष्टाध्यायी अ० ५ पा० ३ सू० ९९ के अनुसार वासुदेव तथा शिवकी प्रतिमाओं का नाम भी "कन्" प्रत्यय का "लुप्" होजाने पर वासुदेव तथा शिव ही होता है॥ इसी के अनुसार देवता की प्रतिमा का नाम भी "कन्" का "लुप्" होजाने से देवता ही बोला जाएगा, (**वासुदेवस्य प्रतिकृतिर्वासुदेवः। शिवस्य प्रतिकृतिः शिवः। देवतायाः प्रतिकृतिर्देवता। तस्या अभ्यर्चनं देवताभ्यर्चनम्**) मनु में कहे हुए "देवताभ्यर्चन" पदका स्पष्टार्थ विष्णु शिवादि देवों की प्रतिमाओं का पूजन ब्रह्मचारी को नियम से करना चाहिए यही सिद्ध होता है। मनु के टीकाकारों की सम्मति भी देवप्रतिमा पूजने में स्पष्ट है। यथा—

गोविन्दराजः—(देवतानां हरादीनां पुष्पादिनाऽर्चनम्।

मेधातिथिः—अतः प्रतिमानामेवैतत्पूजनविधानम्।

सर्वज्ञनारायणः—देवतानामर्चनं पुष्पाद्यैः।

कुल्लूकः—प्रतिमादिषु हरिहरादिदेवपूजनम्।

मनुस्मृति के टीकाकार पं० गोविन्दराज जी कहते हैं कि यहां देवता शब्द से शिवादि देवता अभीष्ट हैं पुष्पादि से पूजन करना देवताभ्यर्चन कहा जाता है।

मेधातिथि कहते हैं कि यहां प्रतिमाओं का ही पूजन अभिमत है

सर्वज्ञनारायण और कुल्लूकभट्ट को भी यही मत स्वीकृत है। इसलिये इन प्रमाणों से देवताओं की पूजा करने से मूर्त्तिपूजा सिद्ध है।

आर्य्य—नहीं जी नहीं, हमारे धर्म्मशास्त्रों में तो देवताओं का अर्थ विद्वान् लिया गया है इस कारण से आपका कथन युक्तियुक्त नहीं है।

मन्त्री—महाशय जी आपको तनिक ध्यान देना चाहिए कि यदि यहां देवताओं से विद्वान् का अर्थ सिद्ध होता है, तो प्रातःकाल में ही देवताओं का पूजन करना चाहिए, ऐसा क्यों लिखा है। और यदि कथञ्चित् इस बात को स्वीकार भी करलें कि देवता अर्थ यहां विद्वान् ही है, तो फिर भी आप जड़पूजा से पृथक् किसी प्रकार नहीं हो सक्ते हैं। क्योंकि यदि आप किसी विद्वान् की पूजा करेंगे तो आत्मा को निराकार होने के कारण इस विद्वान् के शरीर की ही पूजा करेंगे, परन्तु शरीर जड़ है, इसलिए वह भी जड़ही की पूजा हुई। यदि आप कहेंगे कि शरीर में चैतन्य आत्मा के होते हुए चैतन्य शरीर के पूजने से हम जड़पूजक नहीं हो सक्ते हैं, तो ऐसे तो हम भी मूर्त्तिपूजने के कारण जड़पूजक किसी प्रकार भी नहीं हो सक्ते हैं, क्योंकि आपके मानने के अनुकूल ईश्वर सर्वव्यापक होने से मूर्त्ति में भी ईश्वर विद्यमान है, और देखिए मनुस्मृति के नवम अध्याय के २८० श्लोक में लिखा है, यथा—

कोष्ठागार—युधागार—देवतागार—भेदकान्।
हस्त्यश्वरथहन्तॄंश्च हन्यादेवाविचारयन्॥

इसका आशय यह है कि कोश, कारागार, देवताओं के मन्दिरों को जो तोड़ने वाले हैं अथवा वस्तुओं की चोरी करने वाले जो चोर हैं इन सबको राजा विना सोच विचार के मारडाले ॥

और देखिए कि मनुस्मृति के नवम अध्याय के २८५ श्लोक में लिखा है। यथा—

(सङ्क्रमध्वजयष्टीनां प्रतिमानां च भेदकः)

इस श्लोक में मनुजी ने राजा के लिए आदेश किया है कि नालों से उतरने के लिए जो पुल बने हुए होते हैं उनको ध्वजायष्टि नाम तालाव में जो जल नापने की लकड़ी होती है उसको और देवताओं की प्रतिमा को तोड़ने वालों को राजा दण्ड देवे ॥

देखिए इन स्थानों पर भी देवमन्दिर का नाम होने के कारण प्रत्यक्ष मालूम होता है कि मूर्त्तिपूजा का प्रचार मनुजी के समय में विद्यमान था। प्रत्युत मनुजी को भी यह पक्ष स्वीकार था।

आर्य्य—महाशय ! देवमन्दिर से हम 'विद्वान् का स्थान' ऐसा अर्थ लेते हैं।

मन्त्री—आपको उत्तर दिया गया है कि आप देव शब्द का अर्थ विद्वान् नहीं कर सक्ते हैं, और आपने यह वाक्य 'विद्वांसो वै देवाः' शतपथब्राह्मणभाग से लिया है, और इस प्रमाण से ही देवता का अर्थ विद्वान् करते हैं परन्तु इस शतपथ ब्राह्मणभाग नाम ग्रन्थ की ६ कंडिका में मत्स्य अवतारादिका विस्तार से वर्णन किया गया है। यदि आप शतपथ ब्राह्मण के प्रमाण से ही देवता का अर्थ विद्वान्

करते हैं तो आपको छठी कंडिका को भी मानना पडेगा, जिसमें अवतारों की सिद्धि का वर्णन है। जब अवतारों को मानलिया तो मूर्त्ति का स्वीकार करना स्वयं ही सिद्ध होगया और मनुस्मृति के अध्याय ८ श्लोक २४८ से भी प्रत्यक्ष ज्ञात होता है कि देवता शब्द का अर्थ प्रत्येक स्थान पर विद्वान् नहीं हो सक्ता है। श्लोक यह है, यथा—

"तडागान्युदपानानि वाप्यः प्रश्रवणानि च।
सीमासन्धिषु कार्याणि देवतायतनानि च" ॥इति॥

और देखिए, यजुर्वेद के १६ अध्याय के अष्टम मन्त्र में यह लिखा है ॥ यथा—

नमस्ते नीलग्रीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे
अथो ये अस्य सत्वानो हन्तेभ्यो करन्नमः

मन्त्रार्थ—नीलग्रीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे नमः अस्तु अथो अस्य ये सत्वानः तेभ्यः अहम् नमः अकरम्, इति मंत्रार्थः)।

भावार्थ—नीलकण्ठ सहस्रनेत्र से सब जगत् को देखने वाले इन्द्ररूप वा विराट्रूप सेचन में समर्थ पर्जन्यरूप वा वरुणरूप रुद्र के निमित्त नमस्कार हो और इस रुद्र देवता के जो अनुचर देवता हैं उनको मैं नमस्कार करता हूं। देखिए इस श्रुति में "हज़ार नेत्र-वाला और श्याम ग्रीवा वाला" यह लेख ईश्वर के शरीर धारण करने को प्रत्यक्ष सिद्ध कर रहा है क्योंकि शरीर के बिना नेत्र वा कण्ठ किसी प्रकार से नहीं हो सक्ते हैं।

और देखिए, यजुर्वेद के १६ अध्याय के नवम मन्त्र में ऐसा लिखा है। यथा—

प्रमुञ्च धन्वनस्त्वमुभयो रात्न्योर्ज्याम् ।
याश्च ते हस्त इषवः परा ता भगवो वप ॥

मंत्रार्थ—भगवः धन्वनः उभयोः रात्न्योः ज्याम् त्वम् प्रमुञ्च च याः ते हस्ते इषवः ताः परावप ।

भाषार्थ—हे षडैश्वर्यसम्पन्न ! भगवन् ! आप धनुष की दोनों कोटिओं में स्थित ज्या को दूर करो (उतार लो) और जो आपके हाथ में बाण हैं उनको दूर त्याग दो, हमारे निमित्त सौम्य मूर्त्ति हो जाओ ॥

इससे भी ईश्वर शरीरधारी सिद्ध होता है, क्योंकि शरीर के विना हस्त और पादों का होना असम्भव है।

और देखिए, यजुर्वेद के १६ अध्याय के २९ मन्त्र में ऐसे लिखा है। यथा—

'नमः कपर्दिने च' इत्यादि

अर्थ—इस मन्त्र में कपर्दी शब्द है उसका अर्थ 'जटाजूटधारी' को नमस्कार हो ऐसे किया है। अब सोचना चाहिए कि जटा शिर के विना नहीं होसक्ती, इससे भी ईश्वर शरीर धारी सिद्ध हुआ ॥

और देखिए, यजुर्वेद के ३२ अध्याय में ऐसा लिखा है। यथा—

एषोहदेवः प्रदिशोऽनुसर्वाः पूर्वोहजातः सउगर्भे अन्तः ।
सएव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति सर्वतो मुखः॥

अर्थ—यह जो पूर्वोक्त पुरुष ईश्वर सब दिशा विदिशाओं में नानारूप धारण कर ठहरा हुआ है वही पहिले सृष्टि के आरम्भ में हिरण्यगर्भ रूपसे उत्पन्न हुआ और वही गर्भ में भीतर आया वही उत्पन्न हुआ और वही उत्पन्न होगा जो कि सबके भीतर अन्तःकरणों में ठहरा हुआ है और जो नानारूप धारण करके सब ओर मुखों वाला हो रहा है ॥ और भी देखो, यथा—

आयो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरुणि,

अथर्व० ५।१।१।२॥

अर्थ—हे ईश्वर ! जिन आपने प्रथम सृष्टि के आरम्भ में धर्मों का स्थापन किया, उन्हीं आपने बहुत से वपु नाम शरीर अवतार रूपसे धारण किये हैं। वपु नाम शरीर का संस्कृत में प्रसिद्ध है। तथा—

'एह्यश्मानमातिष्ठाश्मा भवतु ते तनूः'।

अथर्व० २।१२।४

अर्थ—हे ईश्वर ! तुम आओ और इस पत्थर की मूर्त्ति में स्थित होओ और यह पत्थर की मूर्त्ति तुम्हारा तनू नाम शरीर बनजाए अर्थात् शरीर में जीवात्मा के तुल्य इस मूर्त्ति में ठहरो इसकी पुष्टि में उपनिषद् तथा ब्राह्मणभागादि के सैंकड़ों प्रमाण मिल सक्ते हैं ॥

और देखिए यजुर्वेद के १३ अध्याय के ४० मन्त्र में यह लिखा है। यथा—

"आजित्यं गर्भं पयसा समरूधि सहस्रस्य प्रतिमां विश्व-

रूपम् । परिवृङ्धि हरसामाभिमं ॐ स्थाः शतायुषं कृणुहि चीयमानः" ॥

इसका अर्थ यह है। सहस्रनाम वाला जो परमेश्वर है उसी की स्वर्णादि धातुओं से बनाई हुई मूर्त्ति को प्रथम अग्नि में डाल कर इसका मल दूर करना चाहिए, इसके बाद दूधसे उस परमात्मा की मूर्त्ति को धोना और शुद्ध करना चाहिए, क्योंकि शुद्ध और स्थापना की हुई मूर्त्ति पुरुष को दीर्घायुः और बड़ा प्रतापी बना सक्ती है। देखो, इस वेदपाठ से प्रत्यक्ष मूर्त्तिपूजा सिद्ध होती है। यदि अब भी आप न मानें, तो क्या किया जाए। फिर तो केवल आपका हठ ही है। लो और सुनिए कि सामवेद के पाञ्चमें प्रपाठक के दशम खण्ड में लिखा है, कि—

"यदा देवतायतनानि कम्पन्ते दैवताः प्रतिमा हसन्ति रुदन्ति नृत्यन्ति स्फुटन्ति स्विद्यन्ति उन्मीलन्ति निमीलन्ति"॥

इस श्रुति का आशय यह है कि जिस राजा के राज्य में वा जिस समय में शयनावस्था में वा जागृतावस्था में ऐसा प्रतीत हो कि देवमन्दिर कांपते हैं तो देखने वाले को जरूर ही कोई कष्ट मिलेगा अथवा देवता की मूर्त्ति रोती नाचती अङ्गहीन होती आंखों को खोलती वा बन्द करती दृष्टिगोचर हो तो समझना चाहिए, शत्रु की ओर से कोई कष्ट ज़रूर होगा। देखिए, इस श्रुति से भी प्रत्यक्ष प्रतीत होता है कि मूर्त्तिपूजा पूर्व भी थी, और वेदों में भी है। इसलिये आप मूर्तिपूजा को अयोग्य किसी प्रकार नहीं कह सक्ते हैं। और एक बात यह भी है कि आप लोक वेदी आदि बनाकर अग्नि

में घृतादि उत्तम २ वस्तुएं डाल कर जलाते हैं (वा होम करतेहैं) इस पर हम यह कह सक्ते हैं कि आप अग्निपूजक हो अथवा अग्नि को ईश्वर की स्थापना समझ कर पूजते हो ॥

आर्य्य—नहीं जी नहीं, हम स्थापना नहीं समझते, हमारा तो यह ख्याल है कि होम करने से वायु शुद्ध होजाता है, जिसकी वासना जगत् में दूर २ तक पहुंच जाती है और अशुद्ध वायु पवित्र होजाता है और लोक बीमारी से बच जाते हैं ॥

मन्त्री—महाशय जी ! यदि ऐसा ही है तो वेदी आदि बनाने की क्या आवश्यक्ता है और अमुक वर्ण हो और वेदी द्वादशाङ्गुल प्रमाण हो इन बातों से क्या अभिप्राय है । सीधे साधे चूल्हे में ही इन वस्तुओं को जला लेवें सुगन्धि स्वयमेव विस्तृत हो जाएगी । और यदि यह बात स्वीकार भी की जावे, तो फिर आप अग्निहोत्र करते समय श्रुतिआं और मन्त्र इत्यादि क्यों पढ़ा करते हैं । वायु तो ऐसे ही वेदी में घृत इत्यादि वस्तु डाल कर जलाने से शुद्ध होसक्ता है । बस इससे मालूम होता है कि जैसे हमलोग ईश्वर की प्रशंसा में श्लोक पढ़ते हैं और मूर्त्ति की पूजा करते हैं वैसे ही आप भी ईश्वर की प्रशंसा में श्रुतिआं पढ़ते और अग्निपूजा करते हैं और होम इत्यादि करने से तो आप लोग अग्निपूजक सिद्ध होते हैं । भेद केवल इतना है कि हमारी पूजा की सामग्री तो किसी पुजारी आदि के काम आजाती है और आपकी सामग्री भस्म होकर मृत्तिका में मिल

जाती है। महाशय जी! मूर्त्तिपूजा से आप लोग कदापि छूट नहीं सक्ते, और देखिए, कि आपके स्वामी दयानन्द जी के बनाए हुए सत्यार्थप्रकाश में लिखा है कि मनको दृढ़ करने के लिये पृष्ठकी अस्थि में ध्यान लगाना चाहिए। अब सभा को ध्यान करना चाहिए कि भला परमात्मा की मूर्त्ति में ध्यान लगाने से तो परमात्मा में प्रीति आएगी, और उनके गुणों का स्मरण होगा परन्तु सत्यार्थप्रकाश के सातवें समुल्लास में "शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वर" इस योगसूत्र का अर्थ करते समय स्वामी दयानन्द जी ने लिखा है कि जब मनुष्य उपासना करना चाहे तो एकान्त देश में आशन लगाकर बैठे और प्राणायाम की रीति से बाह्य इन्द्रयों को रोक मनको नाभिदेश में रोके वा हृदय कण्ठ नेत्र शिखा अथवा पीठ के मध्य हाड़में मनको स्थिर करे। इस "हड्डीपूजा" से तो "मूर्त्तिपूजा" अच्छी है, पृष्ठकी अस्थि देखने वाले को या इसमें ध्यान लगाने वाले को क्या लाभ होसक्ता है। इस वास्ते आपको पृष्ठकी अस्थि को छोड़कर परमात्मा की मूर्त्ति में ध्यान लगाना चाहिए, क्योंकि तुम्हारी पृष्ठकी अस्थि से परमात्मा की मूर्त्ति सहस्रगुण लाभ पहुंचाने वाली है॥

इन सब प्रमाणों से स्पष्ट है कि मूर्त्तिपूजा सर्वथा वेदानुकूल है तथा वैदिकमतानुयायियों का आन्हिक कर्त्तव्य है अब एक दो उदाहरण इस बातका और दिखाए जाते हैं कि तुम लोगों के पूर्वज प्रतिमा पूजनको ठीक मानते रहे और उन्हों ने तदनुकूल आचरण भी किया॥ महाभारत के आदिपर्व में एक उपाख्यान

उस समय का मिलता है जब कि हस्तिनापुर में द्रोणाचार्य्य जी पाण्डव और कौरवों को अस्त्रशिक्षा दे रहे थे उनकी प्रशंसा सुन कर प्रतिदिन अनेक क्षत्रिय उनके पास धनुर्वेदविद्या सीखने के लिये आते थे।

'ततो निषादराज्यस्य हिरण्यधनुषः सुतः।
एकलव्यो महाराज द्रोणमभ्याजगाम ह ॥
न स तं प्रतिजग्राह नैषादिरिति चिन्तयन्।
शिष्यं धनुषि धर्मज्ञस्तेषामेवान्ववेक्षया ॥
स तु द्रोणस्य शिरसा पादौ गृह्य परन्तपः।
अरण्यमनुसम्प्राप्य कृत्वा द्रोणं महीमयम् ॥
तस्मिन्नाचार्य्य वृत्तिञ्च परमामास्थितस्तदा।
इष्वस्त्रेयोगामतस्थे परं नियममास्थितः ॥
परया श्रद्धयोपेतो योगेन परमेण च।
विमोक्षादानसन्धाने लघुत्वं परमाप सः ॥३५॥

महाभारत आदिपर्व अध्याय १३४

इस अध्याय के ३० श्लोकों में एकलव्यके चरित्र का वर्णन है, जब द्रोणाचार्य्य की प्रशंसा दूर २ तक फैल गई तो एक दिन निषदराज हिरण्यधनुष का पुत्र एकलव्य द्रोण के पास धनुर्विद्या सीखने के लिए आया, द्रोणाचार्य्य ने उसे शूद्र जान

कर धनुर्वेद की शिक्षा न दी, तब वह मन में द्रोणाचार्य्य को गुरु मान कर और उनके चरणों को छूकर वनमें चला गया, और वहां द्रोणाचार्य्य की एक मट्टी की मूर्त्ति बना कर उसके सामने धनुर्विद्या सीखने लगा, श्रद्धा की अधिकता और चित्तकी एकाग्रता के कारण वह थोड़े ही दिनों में धनुर्विद्या में अच्छा निपुण होगया, एक वार द्रोणाचार्य्य के साथ कौरव और पाण्डव मृगया खेलने के लिए वनमें गए, उनमें से किसी के साथ एक कुत्ता भी गया था, वह कुत्ता इधर उधर घूमता हुआ वहां जा निकला, जहां एकलव्य धनुर्विद्या सीख रहे थे, कुत्ता उनको देखकर भौंकने लगा, तब एकलव्य ने सात तीर ऐसे मारे कि जिनसे कुत्ते का मुंह बन्द होगया, वह कुत्ता पाण्डवों के पास आया, तब पाण्डवों ने इस अद्भुत रीति से मारने वाले को तलाश किया तो क्या देखते हैं कि एकलव्य सामने एक मट्टी की मूर्त्ति रक्खे हुए धनुर्विद्या सीख रहा हैं। अर्जुन ने पूछा महाशय ! आप कौन हैं, एकलव्य ने अपना नाम पता बताया और कहा कि हम द्रोणाचार्य्य के शिष्य हैं, अर्जुन द्रोणाचार्य्य के पास गये और कहा कि महाराज ! आपने तो कहा था कि हमारे शिष्यों में धनुर्विद्या में तुम ही सब के अग्रणी होंगे परन्तु एकलव्य को आपने मुझसे भी अच्छी शिक्षा दी है, द्रोणाचार्य ने कहा कि मैं तो किसी एकलव्य को नहीं जानता, चलो देखें कौन है। वहां जाने पर एकलव्य ने द्रोणाचार्य्य का पदरज मस्तक पर धारण किया और कहा कि आपकी मूर्त्ति की पूजा से ही मुझे यह योग्यता प्राप्त हुई है,

आप मेरे गुरु हैं, द्रोणाचार्य्य ने कहा कि फिर तो हमारी गुरु-दक्षिणा दो, एकलव्य ने कहा कि आप जो कहें सो मैं देने को तय्यार हूं, तब द्रोणाचार्य्य ने उसका अंगूठा दक्षिणा में मांगा, और एकलव्य ने दे दिया, अंगूठा न रहने के कारण फिर एकलव्य में वसी लाघवता न रही और द्रोणाचार्य्य की प्रतिज्ञा भी पूर्ण हुई। देखिए पाठक! द्रोणाचार्य्य की मूर्त्ति पूजने से ही एकलव्य अर्जुन से धनुर्विद्या में उत्कृष्ट होगया तो फिर जो लोग अहरहः देवपूजन करेंगे उनके कौनसे मनोरथ सिद्ध न होंगे? अथ वाल्मीकीय रामायण को भी देख लीजिए, जिस समय मर्य्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र जी रावणादि राक्षसों को मार कर पुष्पक विमान द्वारा लौटे, तो सीता जी को उन्हों ने उन २ स्थानों का पता बताया कि जहां २ पर वे सीता जी के वियोग में घूंमते थे, रामचन्द्र जी कहते हैं कि—

एतत्तु दृश्यते तीर्थं सागरस्य महात्मनः।
यत्र सागरमुत्तीर्य तां रात्रिमुषिता वयम्॥

एष सेतुर्मया बद्धः सागरे लवणार्णवे।
तव हेतोर्विशालाक्षि! नलसेतुः सुदुष्करः॥

पश्य सागरमक्षोभ्यं वैदेहि वरुणालयम्।
अपारमिव गर्जन्तं शङ्खशुक्तिसमाकुलम्॥

हिरण्यनाभं शैलेन्द्रं काञ्चनं पश्य मैथिलि ! ।
विश्रामार्थं हनुमतो भित्त्वा सागरमुत्थितम् ।
एतत्कुक्षौ समुद्रस्य स्कन्धावारनिवेशनम् ॥
अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद्विभुः ।
एतत्तु दृश्यते तीर्थं सागरस्य महात्मनः ॥
सेतुबन्धमितिख्यातं त्रैलोक्येन च पूजितम् ।
एतत्पवित्रं परमं महापातकनाशनम् ॥ इति

रामचन्द जी कहते हैं कि हे सीते ! यह समुद्र का तीर्थ है जिस जगह हमने एक रात निवास किया था, यह जो सेतु दीखता है इसे नल की सहायता से तुझे प्राप्त करने के लिए हमने बांधा था। जरा समुद्र के ओर तो देखो जो वरुण देव का घर है जिसमें कैसी ऊंची २ लहरें उठ रही हैं जिसका ओर छोर नहीं दीखता, नाना प्रकार के जल जन्तुओं से भरे तथा शंख और सीपों से युक्त है इस समुद्र में से निकले हुए सुवर्णमय इस पर्वत को देख जो हनूमान के विश्रामार्थ सागर के वक्षःस्थल को फाड़ कर उत्पन्न हुआहै। यहीं पर विभु व्यापक महादेवजी ने हमें बरदान दिया था, यह जो महात्मा समुद्र का तीर्थ दीखता है इसका नाम सेतुबन्ध है और तीनों लोकों से पूजित है, यह परम पवित्र है और महापातकों को नाश करने वाला है। इन अन्तिम दो श्लोकों पर बाल्मीकीय रामायण के टीकाकार लिखते हैं कि:—

"सेतोर्निर्विघ्नतासिद्ध्यै समुद्रप्रसादानन्तरं शिवस्थापनं रामेण कृतमिति गम्यते कूर्मपुराणे रामचरिते तु अत्रस्थाने स्पष्टमेव लिङ्गस्थापनमुक्तं त्वत्स्थापितलिङ्गदर्शनेन ब्रह्महत्यादिपापक्षयो भविष्यतीति महादेववरदानं च स्पष्टमेवोक्तं, सेतुं दृष्ट्वा समुद्रस्य ब्रह्महत्यां व्यपोहतीति स्मृतेः" ॥

अर्थ—सेतुका निर्विघ्न पूर्ण होने के लिए रामचन्द्रजी ने समुद्र-प्रसादानन्तर यहां शिवमूर्त्ति का स्थापन और पूजन किया था, कूर्म पुराण में तो इस प्रकरण में रामचन्द्रजी का लिङ्गस्थापन और महादेवजी के वरदान का स्पष्ट वर्णन है कि तुम्हारे स्थापित किए हुए शिवमूर्त्ति के दर्शन करने से ब्रह्महत्यादि पापों का क्षय होगा, और स्मृति में भी लिखा है कि समुद्र का सेतुदर्शन करने से महा पातकों का नाश होता है।

महाराज दशरथ जिस समय रामचन्द्रजी के वियोग में मृत्युङ्गत होगए थे तब भरतजी अपनी ननसाल में थे उनके बुलाने के लिए दूत भेजा गया और जब भरतजी अयोध्या के समीप पहुंचे तो उन्होंने अनेक अशुभ चिन्ह देखे, वे कहते हैं, यथा—

"देवागाराणि शून्यानि न भान्तीह यथा पुरा।
देवतार्चाः प्रविद्धाश्च यज्ञगोष्ठास्तथैव च" ॥

अर्थ—देवताओं के मन्दिर शून्य दीख पडते हैं, आज वैसे शोभायमान नहीं हैं जैसे पहिले थे। प्रतिमाएं पूजारहित होरही है

उनके ऊपर धूप दीप पुष्पादि चढ़े नहीं दीखलाते हैं, यज्ञों के स्थान भी यज्ञकार्य से रहित हैं।

इन सब प्रमाणों से स्पष्ट प्रकट है कि मूर्त्तिपूजा सनातन है, त्रेता और द्वापर तक का जो वृत्तान्त मिलता है उनसे स्पष्ट प्रकट है कि यहां बड़े २ देवमन्दिर थे, जिनमें नित्य पूजा होती थी, विद्वान् पूजा करते थे।

महाशय जी! अब तनिक ध्यान तो करो कि जब आप के पूर्वज प्रतिमा का पूजन करके प्रत्यक्ष फल प्राप्त कर गए हैं, यदि आप भी मूर्त्तिपूजन करेंगे तो आपकी अभिलाषा अवश्य ही पूर्ण तो होजाएगी और निःसन्देह सुख प्राप्त होगा।

आर्य्य—श्रीमन्! मूर्त्ति को तो इसप्रकार मानलिया "कि इससे ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान होता है" और यह समझकर परमात्मा की मूर्त्ति का सन्मान भी किया और सिर भी झुकाया, परन्तु इस पर फूल फल केसर चंदन धूप दीप चावल और मिठाई इत्यादि चढाने से क्या तुम्हारा लाभ है?।

मन्त्री—महाशय जी! वस्तु के विना भाव नहीं आसक्ता, इस वास्ते भगवान् की मूर्त्ति पर उक्त वस्तुओं का चढ़ाना आवश्यक है और ऊपर लिखित वस्तु चढाते समय नीचे लिखी हुई भावना करते हैं॥

(फूल)

फूल चढ़ाते हुए हम यह भावना करते हैं कि हे भगवन्!

हे प्रभो ! यह जो फूल हैं सो कामदेव के बाण (काम को बढ़ाने वाले) हैं ॥ मैं अनादि काल से सांसारिक विषयों में मग्न हूं। आप वीतराग हैं और आपने कामदेव को भी पराजय किया है इसलिए मैं इन फूलों को आपके लिए अर्पण करके प्रार्थना करता हूं कि यह कामदेव के बाण "जो अनादि काल से हमको क्लेश दे रहे हैं" तेरी भक्ति के कारण से आगामि काल में दुःख न देवें ॥

(फल)

महाशयजी ! भगवान् की मूर्त्ति के आगे अच्छे और पवित्र फल रखकर हम यह प्रार्थना करते हैं कि हे भगवन् ! मुझको आपकी भक्ति का मुक्तिरूप फल प्राप्त हो ॥

(केशर वा चन्दन)

इनके चढ़ाते समय हम यह भावना करते हैं कि हे भगवन् ! जैसे इनकी वासनासे दुर्गन्धि की वासना दूर होती है तथैव तुम्हारी भक्ति की वासना से हमारी भी बुरी अनादि वासना दूर होवे ॥

(धूप)

महाशय ! धूपदेने के समय हम ऐसी भावना करते हैं कि हे प्रभो ! जैसे धूप अग्नि में जलता है ऐसे ही आपकी भक्ति से मेरे सब पाप जलकर भस्म होजाएं, और जैसे धूम्रकी ऊर्ध्व गति होती है वैसे ही मेरी भी ऊर्ध्व गति होवे अर्थात् मोक्ष होवे ।

(दीपक)

महाशयजी ! निस्सन्देह हम घृतसे दीपक जलाकर परमात्मा की मूर्त्ति के आगे रखते हैं और हम इससे यह भावना करते हैं कि हे भगवन् ! जैसे दीपक के प्रकाश होने से अन्धकार दूर हो जाता है ऐसे ही आपकी भक्ति से मेरे घट में भी केवलज्ञान (ब्रह्मज्ञान) रूप प्रकाश होवे, ताकि मेरा भी सर्व अज्ञानरूपी अन्धकार दूर होजाय ।

(चावल)

जिनको संस्कृत में अक्षत कहते हैं, इनके चढ़ाते समय यह भावना करते हैं कि हे भगवन् ! हे प्रभो ! अक्षतपूजा से मुझे भी अक्षत सुखकी प्राप्ति हो ॥

(मिठाई पकवान इत्यादि)

इनसे हम यह भावना करते हैं कि हे भगवन् ! मैं अनादि-काल से ही इन पदार्थों का भक्षण करता आया हूं परन्तु मेरी तृप्ति न हुई । इसलिए मैं यह पक्वान्न आपको अर्पण करके प्रार्थना करता हूं कि मैं भी आपकी भक्ति के प्रताप द्वारा इन पदार्थों से तृप्त होजाउं (मुक्त होजाउं) ऐ प्यारे ! हम अपने दूसरे हिन्दु भाइयों की तरह भोग नहीं लगाते हैं, प्रत्युत हम उपर लिखित आठ प्रकार की वस्तु को (कि जिन में संसार के सर्व प्रकार के हर्षकी सामग्री आजाती है, और जिनको हम अष्टद्रव्य कहते हैं) भगवान् की मूर्त्ति के आगे अर्पण करके ऊपर लिखित

भावना करते हैं, अथवा यह प्रार्थना करते हैं कि हे परमात्मन्! मुझको संसार की यह अष्ट वस्तु मोहवश कर रही हैं और आपने तो उन सबका त्याग किया है, आप वीतराग हो, इसलिये आपकी भक्ति से मेरी भी इनसे मुक्ति हो, और मुझको भी आप जैसा शान्ति और वैराग्यभाव उत्पन्न हो, महाशयजी! आपको विदित हो कि यह पक्वान्न इत्यादि हम ईश्वर को भक्षण कराने के लिए नहीं चढ़ाते, प्रत्युत अपनी भलाई और लाभ के वास्ते तैय्यार करते हैं और ईश्वर की मूर्त्ति के आगे रखके केवल यह प्रार्थना करते हैं कि हे भगवन्! जिस तरह आपने इनका त्याग किया है मुझको भी इनसे छुड़ाकर आप मुक्ति का दान देवें।

आर्य्य—क्यों जी! आपका तो यह कहना है कि ईश्वर कुच्छ नहीं कर सक्ता और न कुच्छ देसक्ता हैं तो फिर यह प्रार्थना करनी कि हे ईश्वर! हमको मुक्ति दे, हमारे दुःख दूरकर इत्यादि २ व्यर्थ है!

मन्त्री—महाशय जी! ईश्वर परमात्मा तो वस्तुतः वीतराग है प्रशंसा करने से प्रसन्न और निन्दा करने से क्रोधित नहीं होता, न किसी को कुछ देता है, न किसी से कुच्छ लेता है, प्रत्युत यह तो केवल अपने भावही का फल है। प्रत्यक्ष सिद्ध है कि बुरी भावना से हमारी आत्मा मलिन होजाती है, और शुभ भावना से हमारे अशुभ कर्म्मों का नाश होता है, और क्योंकि ईश्वर की प्रशंसा करने या ध्यान करने से हमारे हृदय में शुद्ध परिणाम आजाता है, और उनका हमें अच्छा फल मिलता है,

इसलिए जानना चाहिये कि ईश्वर ने ही हमें यह फल दिया है, क्योंकि ईश्वरनिमित्त होने से ही हमारा भाव अच्छा होता है जिसके कारण से हमें श्रेष्ठ फल मिलता है। अब प्रत्यक्ष सिद्ध है कि यह श्रेष्ठ फल ईश्वर के निमित्त होने के कारण से हमको मिला न कि ऐसे इस तरह कहा जासक्ता है कि यह फल ईश्वर ने हमको दिया है, परन्तु तुम्हारे ईश्वर की तरह कि परमात्मा ही सब कुछ देता है' कदापि नहीं माना जासक्ता। और नही हम ऐसा मान सक्ते हैं क्योंकि ईश्वर तो वीतराग है उसे लेने देने की कुच्छ आवश्यकता नहीं है और यदि उसे भी लेने देने की इच्छा है तो वह ईश्वर ही न रहा, तब तो हमारे जैसा ही समझना चाहिए। पाठकगणो! इस विषय में पुस्तक बढने के भय से अधिक नहीं लिखा गया, यदि आपको सम्यक् प्रकार से इस विषय के देखने की इच्छा हो तो आप चिकागु प्रश्नोत्तर जसवंतराय जैनी लाहौर से मंगवा कर पढ़ लेवें। *

प्यारे! एक बात मैं आपको और खुनाता हूं जो कि समझने के लायक है। स्मरण रखना चाहिए कि जिनेश्वरदेव की मूर्त्ति हमेशा रागद्वेष से पृथक् और अन्य मतानुयायियों की मूर्त्तियां सांसारिकविषययुक्त प्रतीत होती हैं। किसी की मूर्त्ति के साथ स्त्री की मूर्त्ति है किसी मूर्त्ति के हाथ में शस्त्र है,

---

*इसी को जीरा जिला फिरोजपुर निवासी लाला राधा मल के पुत्र लाला नत्थूरामजीने उर्दू में छपवाया है, उर्दू जानने वाले महाशय उन से मंगवा कर पढ़ सकते है।

किसी मूर्त्तिके हाथ में जपमाला है किसी के हाथ में कमण्डलु है और कोई मूर्त्ति वृषभ पर आरूढ़ है और कोई गरुड़पर इत्यादि २ ॥ यह सर्व अवस्थाएं सांसारिक हैं जिनमें मनुष्य अनादिकाल से ही प्रतिदिन लगा हुआ है, परन्तु मुक्ति का मार्ग सांसारिक दशाओं में लगे रहने से नहीं मिलता है प्रत्युत इसके त्याग करने से प्राप्त होसक्ता है इसलिए मस्जीद और मन्दिर इत्यादि में सांसारिक दशा के प्रतिकूल समझाने वाले कारणों का होना आवश्यक है। जैसा कि जैनियों की मूर्त्तियां शान्त दान्त निर्विकारी स्त्रीरहित निःस्पृह किसी वाहन के विना रागद्वेष से विमुख होती हैं। यह बात निसंदेह है जैसा कोई होता है उसकी मूर्त्ति भी वैसी ही हुआ करती है। विचार करना चाहिए कि जिसकी मूर्त्ति के साथ स्त्री की प्रतिमा होगी, वह अवश्य कामी होगा। वर्तमान काल में कोई मनुष्य गुरु या पीर होकर स्त्रीको साथ रक्खे तो लोग उसको अच्छा नहीं समझते, तो फिर जो परमेश्वर होकर स्त्री को साथ रक्खे, वह वीतराग परमात्मा कैसे होसक्ता है? कदापि नहीं हो सक्ता। और जिसके पास चक्र, त्रिशूल, धनुर्बाण या तलवार, इत्यादि शस्त्र होवें तो उसको अवश्य कोई भय होगा, या किसी शत्रुके मारने का संकल्प होगा, क्योंकि आवश्यकता के विना शस्त्रों का रखना मूर्खता को प्रकट करना है। यदि कहा जावे कि वह अपने महत्व के लिए शस्त्र रखता है तो वह ईश्वर परमात्मा ही नहीं होसक्ता, क्योंकि ईश्वर को दर्शनीयता और महत्व की

कोई आवश्यकता नहीं, इसवास्ते जिस मूर्त्ति के साथ शस्त्र होवें वह पूजने के अयोग्य होती है। और जिसके हाथ में माला है, वह किसी दूसरे का जप करता होगा परन्तु ईश्वर परमात्मा ने किसका करना था, क्योंकि इससे बड़ा और कोई है नहीं, कि जिसका यह जपन करे, इसवास्ते माला वाली मूर्त्ति भी पूजने के योग्य नहीं है और जिस मूर्त्तिका वाहन है, वह भी दूसरों को दुःख दाता है, परन्तु ईश्वर परमात्मा तो दयालु है किसी को दुःख नहीं देता। इसवास्ते सवारी वाली मूर्त्ति भी पूजने के योग्य नहीं। जिसके पास कमण्डल है वह भी किसी आवश्यकता के लिए होगा परन्तु ईश्वर परमात्मा को किसी की आवश्यकता नहीं है, इसलिए कमण्डलु वाली मूर्त्ति भी पूजने के योग्य नहीं। अन्त में सभा को विचार करना चाहिए, क्या ऐसी मूर्त्तियां देखकर ध्यान और भाव शुद्ध होसक्ते हैं? कदापि नहीं। प्रत्युत ऐसी मूर्त्तियां देखकर तो उनके इतिहास स्मरण हो जाते है, कि उन्हों ने.....ऐसे २ काम किए थे, इसलिए ऐसी मूर्त्तियों की पूजा कदापि न करनी चाहिए, पूजा के लिए शान्त निर्विकार मूर्त्ति होनी चाहिए। अब हम नीचे एक श्लोक लिखते हैं बुद्धिमान् इस श्लोक से सर्व परिणाम निकाल सक्ते हैं। यथा—

"स्त्रीसंगः काममाचष्टे द्वेषं चायुधसंग्रहः।
व्यामोहं चाक्षसूत्रादि-रशौचञ्च कमण्डलुः" ॥

अर्थ इसका यह है—कि स्त्री की जो सङ्गति है सो काम

का चिन्ह है और जो शस्त्र हैं सो द्वेषका चिन्ह हैं, और जो जपमाला है सो व्यामोह का चिन्ह है, और जो कमण्डलु है सो अपवित्रता का चिन्ह है, इसलिए मूर्त्ति शान्त दान्त निर्विकार होनी चाहिए, और ऐसी ही स्वीकार करने योग्य है। ऐसी अच्छी बातको सुनकर और निरुत्तर होकर सब चुप होगए। मन्त्री राजा की तरफ देखकर बोला, कि महाराज! अबतो आप को अच्छी तरह से मालूम होगया होगा कि मूर्त्तिपूजा से कोई मत खाली नहीं। राजा साहिब ने कहा कि हे मतिमन्! मन्त्रिन्! यह बात सर्वदैव सत्य है, मुझको अच्छी तरह से निश्चय होगया है कि व्यर्थ ही दूसरे मन्त्री ने मेरा ख्याल बदला दिया था, परन्तु अब यह ख्याल 'जोकि मूर्त्ति हमें कुछ लाभ नहीं दे सक्ती' सत्य नहीं है। मैं आपको हृदय से धन्यवाद देता हूं कि आप सन्मार्ग से भूले हुए मुझको अच्छे मार्ग पर लाए हैं; समय बहुत व्यतीत होगया है इसलिए सभामण्डल को आज्ञा है कि सब आदमी अपने २ घरों को जावें और सभा का विसर्जन किया जाए। रात्रि को जब राजा जी सोगए तो निद्रा में मूर्त्ति के ही स्वप्न आने लगे और जब से जागे तो भी यह ख्याल था कि कब प्रातःकाल हो और मैं जिनेश्वरदेव जी महाराज की उपासना करूं। जब प्रातःकाल हुआ राजा जी निद्रा से विमुक्त हुए तो टट्टी फराग से निवृत्त होकर और स्नानादि करके अष्टद्रव्य लेकर जिनेश्वरदेव की पूजा भक्ति में प्रवृत्त हुए।

सज्जन पुरुषो ! इस दृष्टान्त के सुनने से आप को अच्छी तरह प्रतीत होगया होगा कि मूर्त्तिपूजा से कोई भी मत खाली नहीं है। राजा जिज्ञासु की तरह आप को आत्मा के कल्याण करने वाली जिनमूर्त्ति का पूजन करना चाहिए।

पाठक गणो ! अब मैं अपने लेख को समाप्त करता हूं क्योंकि बुद्धिमानों को तो इतना ही कहना बहुत है, और साथ ही प्रार्थना करता हूं कि मेरा यह लेख किसी महाशय को न रुचे वा इस से किंचित् अप्रसन्नता हो, तो मैं उनसे क्षमा चाहता हूं, यथोक्तं च

खामेमि सव्वजीवे सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु वेरं मज्झ न केणइ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः ! ! शान्तिः ! ! !

परिशिष्ट

जम्माभिसेयनिक्खमणचरणनाणुप्पपायनिव्वाणे ।
दियलोअभवणमंदरनंदीसरभोमनगरेसु ॥३३४॥
अट्ठावयमुज्जिंते गयग्गपयए य धम्मचक्के य ।
पासं रहावत्तनगं चमरुप्पायं च वंदामि ॥३३५॥

भावार्थः—तीर्थंकरों की जन्मभूमि, विहार, चारित्र, ज्ञानोत्पत्ति और निर्वाणस्थानोमें तथा देवलोकों के भवनो में, मेरुपर्वत के उपर, नंदीश्वरद्वीप में, पाताल में तथा नगरो में, अष्टापद, गिरनार, गजाग्रपद और धर्मचक्र के स्थानो में तथा जहां पार्श्वनाथ भगवान का धरणेन्द्र ने महिमा किया उस स्थानमें तथा रथावर्त्त पर्वत में तथा चमरेन्द्र के उत्पात स्थान में रहे हुए चैत्यों को मैं वन्दना करता हुं । ३३४—३५

गुणमाहप्पं इसिनामकित्तण सुरनरिंदपूयो य ।
पोराणचेइयाणि य इय एसा दंसणे होई ॥३३७॥

भावार्थः—आचार्यादि के गुणों के माहात्म्य का वर्णन, महर्षियों के नामों का कीर्त्तन, देवता और इन्द्रों ने तीर्थंकरों की की हुई पूजा का कथन और पुराने चैत्यों (प्रभु प्रतिमाओं) की पूजा आदि करने से दर्शन(समकित)की शुद्धि होती है ॥३३७॥

आचारांग श्रु० २, चू० ३ भावनाख्यनिर्युक्तिदर्शनभावना ।

पीतीय दोण्ह दूओ पुच्छणमभयस्स पत्थवे सोउ । तेणावि सम्मदिट्ठित्ति होऊ पडिमारहंमि गया ॥ दट्ठुं संबुद्धो रक्खिआय ॥

व्याख्या—अन्यदाऽऽर्द्रकपित्रा जनहस्तेन राजगृहे श्रेणिकराज्ञः प्राभृतं प्रेषितं। आर्द्रकुमारेण श्रेणिकसुतायाभयकुमाराय स्नेहकरणार्थं प्राभृतं तस्यैव हस्तेन प्रेषितं, जनो राजगृहे गत्वा श्रेणिकराज्ञः प्राभृतानि निवेदितवान् सम्मानितश्च राज्ञा आर्द्रकप्रहितानि चाभयकुमाराय दत्तवान्, कथितानि स्नेहोत्पादकानि वचनान्यभयेनाऽचिन्ति नूनमसौ भव्यः स्यादासन्नसिद्धिको यो मया सार्धं प्रीतिमिच्छतीति, ततोऽभयेन प्रथमजिनप्रतिमा बहुप्राभृतयुतार्द्रकुमाराय प्रहिता, इदं प्राभृतमेकान्ते निरूपणीयमित्युक्तं जनस्य, सोऽप्यार्द्रकपुरं गत्वा यथोक्तं कथयित्वा प्राभृतमार्पयत्, प्रतिमां निरूपयतः कुमारस्य जातिस्मरणमुत्पन्नं, धर्मे प्रतिबुद्धमना अभयं स्मरन् वैराग्यात् कामभोगेष्वनासक्तस्तिष्ठति, पित्रा ज्ञातं मा क्वचिदसौ यायादिति पञ्चशतसुभटैर्नित्यं रक्ष्यत इत्यादि।

भावार्थः—एक दिन आर्दकुमार के पिताने एक दूत के साथ श्रेणिकराजा को और आर्द्रकुमार ने अभयकुमार को भेट भेजी। अभयकुमार ने सोचा कि यह अवश्य भव्य वा नजदीक में सिद्धिगति को पाने वाला होना चाहिए, जिससे अभयकुमार ने जिनेश्वरदेव की प्रतिमा के साथ बहुत भेंट भेजाई। प्रतिमा देखके आर्द्रकुमार को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ और वैराग्य होने से कामभोग में अनासक्त हुआ, जिससे उनका पिता उनकी पांचसो सुभटो से रक्षा करवाने लगा।

श्रीसूत्रकृतांग श्रुतस्कन्ध २, अ. ६

तेसिणं पेच्छाघरमंडवाणं पुरओ चत्तारि मणिपेढिताओ पण्णत्ताओ तासिणं मणिपेढियाणं, उवरि चत्तारि २ चेतितथूभा पण्णत्ता तासिणं चेतितथूभाणं पत्तेयं २ चउदिसि चत्तारिमणिपेढियातो पण्ण० तासिणं मणिपेढिताणं उवरि चत्तारि जिणपडिमाओ सव्वरयणामईतो सपलियंकणिसन्नाओ थूभाभिमुहाओ चिट्ठंति तं जहा रिसभा, वद्धमाणा, चंदाणणा, वारिसेणा तेसिणं चेतितथूभाणं पुरतो चत्तारि मणिपेढिताओ पण्ण० तासिणं मणिपेढिताणं उवरि चत्तारि चेतितरुक्खा पण्ण०

भावार्थ—उस प्रेक्षाग्रह मंडप के आगे चार मणिपीठ है, उन मणिपीठों के उपर चैत्यस्तंभ है, उन चैत्यस्थंभों के उपर प्रत्येक २ चार दिशामें चार मणिपीठ है, उन मणिपीठों के उपर चार जिनेश्वर भगवान की प्रतिमा(मूर्त्तियां) है। वह केसी है यह बतलाते है। सर्वरत्नमय पर्यंकासन में बेठी हुई स्तंभके सामने मुखवाली वह इस मुताबिक शाश्वत जिन कहे हैं यह बतलाते हैं, ऋषभ, वर्धमान, चंद्रानन, वारिषेण।

इति स्थानांगसूत्र ४, स्थानाध्ययन उद्देश २, सूत्र ३०७

सोहम्मे कप्पे सुहम्माए सभाए माणवए चेइयक्खंभे हेट्ठा उवरिं च अद्धतेरस २ जोयणाणि वज्जेत्ता मज्झे पणतीस जोयणेसु वइरामएसु गोलवट्टसमुग्गएसु जिणसकहाओ पन्नताओ ॥

भावार्थ—सौधर्म देवलोक की सुधर्मासभा में माणवक नाम के चैत्यस्तंभ के उपर नीचे साडेबारह योजन त्याग कर मध्यके पेंतीस योजन में वज्रमय गोल-वर्तुलाकार डब्बिओमें जिनेश्वर भगवान कीडाढाएं हैं।

भगवानके निर्वाण समय पर देवताओं पूजन करने के लिये ले जाते हैं। इससे ऐसा सिद्ध होता है कि भगवान की डाढा भी जब पूजनीय है तब मूर्त्तिपूजा के लिये शंका कैसी ? ॥

समवायांग सूत्र ३५

एवमेव असुरकुमारा वि देवा णणत्थ अरिहंते वा अरिहंतचेइआणि वा अणगारे वा भावियप्पणो णिस्साए उड्ढं उप्पयंति जाव सोहम्मो कप्पोत्ति ॥१४२॥

हे गौतम ! कोई निर्बल भी सबल का शरणा लेकर इष्टसिद्धि कर सकता है। इस तरह असुरकुमार के देव भी अरिहंत—अरिहंत भगवान के चैत्य मूर्त्ति (मन्दिर) भावितात्मा अणगार (साधु) की निश्रा से ऊर्ध्व (वैमानिक देवों के स्थानोंमें) जा सकते है। निश्रा के विना नही।

भगवती सूत्र शतक ३, उद्देश २, सूत्र १४२

नो खलु विसए चमरस्स असुरिंदस्स असुररन्नो अप्पणो णिस्साए उड्ढं उवयित्ता जाव सोहम्मो कप्पो। णण्णत्थ अरिहंते वा अरिहंतचेइयाणि वा अणगारे वा मावियप्पणो णिस्साए उड्ढं उप्पयंति जाव सोहम्मो कप्पो ॥१४४॥

सौधर्मेन्द्र विचार करता है की—चमरेन्द्र, असुरेन्द्र, असुर राजा अपनी निश्रासे उपर आनेके लिये असमर्थ है, लेकिन अरिहंत—अरिहंत के चैत्य या भावितात्मा अणगार की सहायता से ही उपर आ सकते हैं।

इससे जिनेश्वर भगवान के मंदिर—मूर्त्तियाँ मानना ही चाहिए ऐसा स्पष्ट माल्रम पडता है, उसका निषेध करना केवल कदाग्रह ही है।

भगवती शतक ३, उद्देश २, सूत्र १४४

पभूणं भंते चमरे असुरिंदे....दिव्वाइं भोग भोगाइं भुंजमाणे विहरित्तए? णो इणट्ठे समट्ठे से केणट्ठेणं भंते एवं वुच्चइ णो पभू जाव विहरंतए? गोयमा! चमरस्सणं असुरिंदस्स.... चमरचंचाए रायहाणिए सभाए सुहम्माए माणवए चेईयखंभे वइरामएसु गोलवट्ट समुग्गएसु बहुइओ जिण सक्कहाओ सन्निक्खिताओ चिट्ठंति जाओणं चमरस्स...अन्नेसिं च बहुणं असुरकुमाराणं देवाणं देवीणय अच्चणिज्जाओ वंदणिज्जाओ, नमंसणिज्जाओ पूयणिज्जाओ सक्कारणिज्जाओ सम्माणणिज्जाओ कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासणिज्जाओ भवंति से तेणट्ठेणं अज्जो एवं वुच्चइ णो पभू जाव विहरित्तए।

(गौतमस्वामी प्रश्न करते हैं) हे भगवन्! चमर असुर देवका इन्द्र देव संबंधी भोगों को भोगता हुआ विचरने के लिये समर्थ है? समर्थ (अच्छा) नहीं है ऐसा किस कारणसे कहेते हो? हे गौतम! चमरेन्द्र, असुरेन्द्र चमरचंचा की राजधानी में सुधर्मा नामकी सभामें माणवक चैत्य स्तंभमें वज्रमय गोल वर्तुलाकार दाबडे में बहुत जिनेश्वर की दाढाएं स्थापन की है। जो दाढाएं चमरेन्द्र अन्य असुरकुमार देवों को और देवीओं को अर्चन करने वन्दन करने नमस्कार

करने, पूजा करने, सत्कार करने, तथा सन्मान करने योग्य, कल्याण-कारी, मंगलकारी देवसंबंधी चैत्य अर्थात् जिनप्रतिमा के समान सेवा करने योग्य है। इस लिये हे आर्य ! ऐसा कहा जाता है।

भगवती शतक १०, उद्देश ५, सूत्र ४०५

जंघाचारस्स णं भंते तिरियं केवईए गति विसए पन्नत्ता ? गोयमा ! से णं इत्तो एगेणं उप्पाएणं रुअगवरे दीवे समोसरणं करेइ तहिं चेईआइं वंदइ वंदइत्ता तओ—पडिनियत्तमाणे बीइ-एणं उप्पाएणं णंदीसरे दीवे समोसरणं करेइ तहिं चेइआइं वंदइ वंदइत्ता इहमागच्छइ इह चेईआई वंदइ जंघाचारस्सणं गोयमा ! तिरयं एवईए गतिविसए पन्नत्ता ॥

हे भगवन्त ! जंघाचारण मुनियों की तिर्च्छागतिका विषय कितना है ? हे गौतम ! वे मुनि एक उत्पात से रुचकवर द्वीपमें समवसरण करते हैं। वहां चैत्यों (मंदिरमें विराजमान जिनेश्वर भगवानों) को वन्दन करते हैं। हे गौतम ! जंघाचारण मुनिवरों की तिर्च्छी गति इतनी है।

इसी तरह ऊर्ध्वगति विषयक प्रश्न गौतमस्वामी करते हैं वह पाठ भी वहां इस पाठके साथ ही दिया हुआ है। उसमें भी जिने-श्वर भगवान की मूर्त्ति को वंदन करते है।

भगवती शतक २०, उद्देश ९, सूत्र ६८३

एहिइणं देवाणुप्पिया ! कल्लं इहं महामाहणे उप्पन्ननाण-दंसणधरे तीयपडुपन्नमणागयजाणए अरहा जिणे केवली स-

व्वण्णू सव्वदरिसि तेल्लोकवंदियमहियपूइए सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स अच्चणिज्जे वन्दणिज्जे सक्कारणिज्जे संमाणिज्जे कल्लाणं मङ्गलं देवयं चेइयं जाव पज्जुवासणिज्जे।

हे देवानुप्रिय ! सवेरे यहाँ बडे अहिंसक उत्पन्न हुए ज्ञान-दर्शन को धारण करने वाले, भूत वर्त्तमान और भविष्य को जानने-वाले अरिहंत, जिनकेवली, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और तीन लोकसे पूजाये हुए, लोकोंको पूजने योग्य, वन्दन करने योग्य, सत्कार करने योग्य, सन्मान्य (वीर भगवान्) आयेंगे, उनकी कल्याणकारी देवता (जिने-श्वर भगवान) की चैत्य के समान पर्युपासना—पूजा करना ।

उपाशक दशांग, अध्ययन ७, सूत्र २.

अह केरिसए पुण आहारए वयमिणं ! जेसे उवहीभत्तपाणे संगहदाणकुसले अच्चंत बाल १ दुब्बल २ गिलाण ३ वुड्ढ ४ खवगे ५ पवत्त ६ आयरिय ७ उवज्झाय ८ सेहे ९ साहम्मिए १० तवसी ११ कुल १२ गण १३ संघ १४ चेईयट्ठे १५ निज्जरट्ठीवेयावच्चे अणिस्सियं दसविहं बहुविहं पकरेइ ॥

हे भगवन् ! कैसा साधु तीसरे व्रतको आराधे ? जो साधु उपधि और भात पाणी को लेने में और देने में कुशल हो, अत्यन्त बाल, दुर्बल, ग्लान, वृद्ध, क्षपक, प्रवर्त्तक, आचार्य, उपाध्याय, शिक्षक, साधर्मिक, तपस्वी, कुल, गण, संघ, चैत्य (जिनप्रतिमा) की अनिश्रित रूप से वैयावच्च करे ।

इस पाठमें भी यही बताया है कि जिनेश्वर भगवान की

मूर्त्ति को नहि मानने वाले शास्त्र से अज्ञात है और फ़जूल कदाग्रह में फसे हुए हैं। और जिनेश्वर संबंधी चैत्यों को बनवाना आदि आश्रव नहीं है यह स्पष्ट सिद्ध है, इससे हठाग्रह को छोडना चाहिए।

प्रश्न व्याकरण, संवरद्वार ३,

सामिणा पुव्वं वागरियं अणागए गोयमसामिम्मि जह जो अट्ठापदं विलग्गइ चेइयाणि य वंदई धरणिगोयरो सो तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झति, तं च देवा अन्नमन्नस्स कहिंति जहाकिर धरणिगोयरो अट्ठावयं जो विलंग्गति सो तेणेव भवेण सिज्झइ ततो गोयमसामि चिंतइ जह अट्ठावयं वच्चेज्जा ततो सामि तस्स हिययाकूतं जाणिउण तावसाय संबुज्झिहिन्तित्ति भगवया भणितो वच्च गोयम ! अट्ठावयं चेइयं वंदेउं ताहे भगवं गोयमो हट्ठतुट्ठो भगवं वंदित्ता गतो अट्ठावयं चेइयाणि वंदित्ता उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए पुढवीसीलावट्टए असोगवरपादवस्स अहे तं रयणिं वासाए उवागतो ततो भगवं बिइयदिवसे चेइयाणि वंदित्ता पच्चोरुहइ ॥

स्वामी (महावीरभगवान) जब गौतम स्वामी नहिं आये थे तब कहा था—

जो कोई भूमिचर (मनुष्य) अष्टापद पर्वत उपर चढ जाय और चैत्यों (जिनप्रतिमाओं) को वंदन करे वह उसी ही भवमें सिद्ध अर्थात् मुक्तिगति को प्राप्त करेगा। इस बातको जब देवतालोक आपस आपसमें कहते थे कि जो भूमिचर अष्टापद पर्वत के उपर चढ जाय वह उसी ही भवमें सिद्ध होगा तब उस बातको सुनकर

गौतमस्वामी विचार करते हैं कि मैं अष्टापद गिरि के ऊपर जाउँ, तब वीर भगवान उनके हृदय के विचार जानकर तापस भी बोध पायेंगे ऐसा समझ के भगवान बोले—

अष्टापद पर्वत उपर चत्यों के वंदन के लिये जावो, इससे खुश हुए गौतमस्वामी, भगवान वीरस्वामी को वंदन करके अष्टापद गये। चैत्यों को वंदन करके उत्तर पश्चिम दिशा (इशान कोण) में पृथ्वी विशाला पट्ट उपर अशोक वृक्ष के नीचे रात्रि ठहर कर दूसरे दिन चैत्यों को वंदन करके नीचे आये।

आवश्यक सूत्र, पृष्ठ २८७.

थुभसयभाउआणं चउवीसं चेव जिणहरे कासी।
सव्वजिणाणं पडिमा वण्णपमाणेहिं निअएहिं ॥६७॥

सो (१००) भाइओं के स्तूप और चौबीश जिनमंदिर बनवाए, सब जिनेश्वर भगवान की अपने २ वर्ण और प्रमाणवाली प्रतिमाएं बनवाई।

तत्तो य पुरिमताले वग्गुरइसाण अच्चए पडिमा।
मल्लीजिणाण पडिमा उण्णाएवंसी बहुगोट्ठी ॥४९०॥

बाद में स्वामी पुरिमताल नामक नगर में आते हैं। वहां वग्गुर नामक शेठ है। उस की भद्रा नाम की भार्या है। एक दिन वग्गुर शेठ शकटमुख नामक उद्यान में गोठ के लिये गया, वहां जीर्णशीर्ण मंदिर देखता है उसमें मल्लिनाथ भगवान की मूर्ति है, उसको नमस्कार करता है। उसका जीर्णोद्धार करवाया, निरंतर तीन काल सेवा-

पूजा करता है। तीन पर्वमें विशेष ठहरता है। इस तरह वह श्रावक हुआ।

आवश्यक निर्युक्ति.

ताहे संवेग मावन्नो भणति संदिसह इयाणि किं करेमि? भणति वद्धमाणसामिस्स पडिमं करेहि ततो ते सम्मत्तबीयं होहित्ति ॥

विद्युत्माली अच्युतेन्द्र को पूछा कि अब क्या २ करना? अच्युतेन्द्र कहते हैं की वर्धमान स्वामी की प्रतिमा बनवावो, उससे तुझे सम्यक्त्व मिलेगा।

अंतेउरे चेईयघरं कारियं पभावइ ण्हाया तिसंज्झं अच्चेई।

विद्युत्मालीने बनाई हुई मूर्त्ति प्रभावती को मीलती है। उसने जनाने-अन्तःपुर-में चैत्यघर बनवाया और प्रभावती स्नान करके तीन-काल वर्धमान स्वामीकी पूजा करती है।

आवश्यक पृ. २९८

इओय गंधारओ सावगो सव्वाओ जम्मभूमिओ वंदित्ता वेयड्ढ कणगपडिमाउ सुणेत्ता उववासेण ठिओ जई वा मओ दिट्ठाओ वा देवयाए दंसियाओ तुट्ठाय सव्वकामियाणं गुलियाणं सयं देति ततो णीतो सुणेइ वीतभए जिणपडिमा गोसीसचंदणमई तं वंदिउं एइ वंदति।

अनन्तर गंधारक श्रावक सब जन्मभूमिओं को वंदन करके वहां ठहेरा। प्रसन्न हुए देवताओने उसको दर्शन करवाया, और

उसको सर्व इच्छितको देनेवाली सौ गुटिकायें दी बाद वह सुनता है कि वीत्तभय पत्तनमें गोशीर्ष चंदन की जिनप्रतिमा है और वहां वंदन के लिये आता है और वंदन करता है।

सोय सेणियस्स सोवण्णियाण जवाणमट्ठसतं करेइ चेइय-रयणियाए परिवाडिए सेणिओ कारेइ तिसंज्झं।

वह स्वर्णकार श्रेणिक राजा के सुवर्ण का एक सौ आठ जव बनाता है ओर उन सब जवों को श्रेणिक राजा चैत्य की पूजामें प्रभुजी के सन्मुख स्वस्तिक करने में लगाता था।

सिज्जंभवं गणहरं जिणपडिमा दंसणेण पडिबुद्धं।

दशवैकालिक निर्युक्ति

शय्यंभव आचार्य जिनप्रतिमा के दर्शन से प्रतिबोधित हुए।

तेणं कालेणं तेणं समएणं जाव तुंगीयानयरीए बहवे सम-णोवासगा परिवसंति संखे सयए सियप्पवाणे रिसीदत्ते दमगे पुक्खली निबद्धे सुपइट्ठे भाणुदत्ते सोमिले नरवम्मे आणंदका-मदेवाइणो अन्नत्थगामे परिवसंति अड्ढा दित्ता विच्छिन्न विपु-लवाहणा जाव लद्धट्ठा गहियट्ठा चाउदसट्ठमुदिट्ठ पुण्णमासि-णीसु पडिपुण्णं पोसहपालेमाणा निग्गंथणा निग्गंथिण य फासु एसणिज्जेणं असणादि पडिलाभेमाणा चेइयालएसु तिसंज्झं चंदणपुप्फधूववत्थाइहिं अच्चणं कुणमाणा जाव जिणहरे विहरंति से तेणट्ठेणं गोयमा जो जिणपडिमं पुएइ सो नरो सम्मदिट्ठी जाणियव्वो जो जिणपडिमं न पुएइ सो मिच्छदिट्ठी जाणियव्वो

मिच्छदिठिस्स नाणं न हवइ चरणं न हवइ मुक्कं न हवइ सम्मदिट्ठिस्स नाणं चरणं मुक्कं च हवइ से तेणट्ठेण गोयमा सम्मदिट्ठिसट्ठेहिं जिणपडिमाणं सुगंधपुप्फचंदणविलेवणेहिं पूया कायव्वा ।

महाकल्पसूत्र ।

उस कालमें उस समय में यावत् तुंगीया नगरी में बहुत श्रमणोपासक रहेते थे । शंख, शतक, सितप्रवाह, ऋषिदत्त, दमक, पुष्कली, निबद्ध, सुप्रतिष्ट, भानुदत्त, सोमिल, नरवर्म, आणंद और कामदेव आदि अन्य २ गामोमें रहेते थें । धनाढ्य तेजस्वी एवं विस्तृत बल–वाहन वाले थे तथा सूत्रों के अर्थ को जानते थें । चतुर्दशी, अष्टमी, पूर्णिमा और अमावास्या के दिन परिपूर्ण पौषध को पालते हुए साधु–साध्वीओं को फासु–दोषरहित भोजनादि वहोराते थे, परमात्मा के मंदिरो में तीनकाल चन्दन, पुष्प, धूप और वस्त्र से पूजा करते हुए जिनमंदिर में विचरते थे । इसलिये है गौतम ! जो जिनप्रतिमाओं को पूजता है उसको समकितदृष्टि समझना । जो नहिं पूजता है उसको मिथ्यादृष्टि समझना । मिथ्यादृष्टि को ज्ञान नहीं होता है, चारित्र नहीं होता है और मोक्ष भी नहीं होता है । समकित दृष्टि को ज्ञान, चारित्र और मोक्ष होता है । इस कारण से गौतम ! सम्यग्दृष्टि को जिनप्रतिमाकी पूजा सुगंधी चंदन, धूप विलेपन आदि से करना चाहिए ।

काउंपि जिणायणेहिं मंडियं सयलमेइणीवट्टं । दाणाइ

चउक्केण वि सुष्ठु विगच्छिज्ज अच्चुअयं ण परउ गोयम-गिहित्ति।

महानिशिथ सूत्र, अ. ३.

जिनेश्वर भगवान के मंदिरों से समस्त पृथ्वी को शोभायमान करके, तथा दान–आदि चार प्रकारके धर्मका अच्छी तरह सेवन करके श्रावक बारमें देवलोक तक जा सकता है। हे गौतम ! उससे उपर नहीं जा सकता।

तिलोगमहियधम्मतित्थकराणं जगगुरुणं भावच्चण दव्व-च्चणभेदेण दुहच्चणं भणियं भावच्चणं चारित्ताणुठाण कठुग्गघोर-तवचरणं दव्वच्चणविरहिया विरयसीलपूयासक्कारदाणादी ता गो-यमाणं एसत्थे परमत्थे तं जहा भावच्चणमुग्गविहारयाय दव्वच्चणं तु जिणपूया पढमा जइण दोन्निवि गिहीण पढमच्चिय पसत्था।

महानिशिथ, अ. ३.

तीन लोकसे पूजित, तीन जगतके गुरु एसे धर्मतीर्थंकरका द्रव्यपूजन और भावपूजन एसे दो भेदसे पूजन कहा है। चारित्र के अनुष्ठान का कष्ट और घोर तपाचरण यह भावार्चन कहे जाते है। द्रव्यार्चन जिनेश्वरभगवान की मूर्त्तिपूजा, मुनिओको भावपूजा और गृहस्थों को द्रव्य और भावपूजा प्रशस्त है।

तस्स णं सिद्धाययणस्स णं बहु समरमणिज्जस्स भूमि-भागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थणं महं एगे देवच्छंदए पण्णत्ते पंचधणुसयाइ आयामविक्खंभेणं साइरेगाइं पंचधणुसयाइं उड्ढं

उच्चत्तेणं सव्वरयणामए एत्थणं अट्ठसयं जिणपडिमाणं जिणुस्सेहप्पमाणमित्ताणं संनिक्खित्तं चिट्ठइ ॥

जंबूद्वीपपन्नति, सूत्र १३

सिद्धायतनके बहुत रमणीय भूमिभाग के मध्यप्रदेश में एक देवच्छंदा है। वह देवच्छंदा विष्कंभ आयाम से पांचसो धनुष्य लंबा-चौडा और सातिरेक पांचसो धनुष्य उंचा सर्वरत्नमय है। यहां एक सो आठ जिनेश्वर भगवान की अपने अपने प्रमाणवाली प्रतिमाएं है।

तासिं उप्पिं पत्तेयं २ देवच्छंदया पण्णत्ता दो जोअणाइं आयामविख्कंभेणं साइरेगाइं दो जोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं सव्वरयणामया जिणपडिमा वण्णओ जाव धूवकडुच्छुगा।

जंबूद्वीपपन्नति, सूत्र ८८

उनकी पीठिका के उपर प्रत्येक प्रत्येक देवच्छंदा है और वहां दो योजन लंबी--चोडी, कुछ अधिक दो योजन उंची सर्वरत्नमय एसी जिनप्रतिमाए है। इसतरह धूपदानी तक वर्णन करना।

अरिहंतचेइय जणवइ विसण्णि विट्ठ बहुल।

उववाइ सूत्र १

चंपापुरी नगरी, अरिहंत के चैत्य और मानवीओसे विशाल है।

अंबडस्स परिवायगस्स नो कप्पइ अण्णउत्थिएवा अण्णउत्थियदेवयाणि वा अण्णउत्थियपरिग्गहियाइं अरिहंतचेइआइं वा वंदित्तए वा नमंसित्तए वा अण्णत्थ अरिहंते वा अरिहंतचेइआइं वा।

उववाइ सूत्र ४०

अबंड सन्यासीने प्रभुके पास नियम लिया था कि मेरको अन्य तीर्थिकोने अपने देवस्वरूप मानी हुई अरिहंत की मूर्त्तिओं को भी नमस्कार—वंदन करना नहीं कल्पे।

तत्थणं देवच्छंदए अट्ठसतं जिणपडिमाणं जिणुस्सेहे पमाणमेत्ताणं संणिखित्त चिट्ठइ।

रायपसेणी, सूत्र १३९

सूर्याभविमान के सिद्धायतनमें तीर्थंकर के समान उँचाईवाली एकसो आठ जिनेश्वर की मूर्तियां है तथा माणवक चैत्यमें तीर्थंकरों की डाढाएं है, जो पूजनीय है और यह नित्य कर्म है, जो आगामी कल्याणरूप है, हितकर है, सुखकर है, आखिर मोक्षको देनेवाले है।

तासिणं जिणपडिमाणं उभओ पासिं पत्तेयं पत्तेयं चामरधार पडिमाओ चंदप्पहवइरवेरुलियनाणामणिकणगरयणविमलमहरिहतवणिज्जुज्जलविचित्तंदडाओ चिल्लियाओ संखंककुंददगरय अमतमथितफेणपुंज सण्णिकासाओ सुहुम मरयत दीहवालाओ धवलाओ चामराओ सलीलं आहारेमाणीओ चिट्ठंति।

रायपसेणी, सूत्र १३९

वह जिनेश्वर भगवान की दोनो बाजु रहे हुए चंद्रके जैसे कान्तिवाले, वज्रमय वैडूर्य आदि नाना प्रकारके मणिओंसे युक्त दंड है, जिसके सूक्ष्म रजतमय बालवाले शंख, अंकरत्न, कुंदका पुष्प, जलकण, अमृत और मथित फणाके पुंज सदृश श्वेत ऐसे चामरों को

ग्रहण करके आनंदपूर्वक उन प्रतिमाओंको (अधिष्ठायक देव) चमर ढोल रहे हैं।

तासिणं जिणपडिमाणं पुरतो अट्ठसतं घंटाणं अट्ठसतं चंदणकलसाणं एवं अट्ठसतं भिंगारगाणं.....जाव लोमहत्थ चंगेरीणं पुप्फपडलगाणं अट्ठसयं तेल्लसमुग्गाणं जाव धूवकडुच्छुयाणं संणिखित्त चिट्ठति।

उन जिनेश्वर की प्रतिमा के आगे १०८ घंट; १०८ चंदन के कलश और धातुके कलश है, इत्यादि विविध वस्तुएं है, यावत् १०८ मोरपींछी, १०८ पुष्पकी मालाऐं और १०८ तेलके डाभडें यावत् १०८ धूपदानीयां है।

ततेणं से विजएदेवे चउहिं सामाणियसाहस्सीहिं जाए अण्णेहिय बहूहिं वाणमंतरेहिं देवेहिय देवीहिय सिद्धि संपरिवुडे सव्विड्ढीए सव्वजुत्तीए जाव निग्घोसणाइ खेणं जेणेव सिद्धाययणे तेणेव उवागच्छत्ति २ त्ता सिद्धायतणं अप्पणुयाहिणी करेमाणे २ पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं अणुपविसति अणुपविसित्ता जेणेव देवच्छंदए तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता आलोए जिणपडिमाणं पणामं करेति करेत्ता लोमहत्थगं गेण्हति लोमहत्थगं गेण्हित्ता जिणपडिमाओ लोमहत्थएणं पमज्जति २त्ता सुरभिणा गधोदएणं ण्हाणेति २त्ता दिव्वाइ सुरभिगंध कासाइए गाताइं लूहेति २त्ता सरसेणं गोसीसचंदणेण गत्ताणि अणुलिंपइ अणुलिंपेत्ता जिणपडिमाणं अहयाइं सेताइं

दिव्वाइ देवदूसजुयलाइं णियंसेइ नियंसेत्ता अग्गेहिं वरेहिय गंधेहिय मल्लेहिय अच्चेति २त्ता पुप्फारुहणं गंधारुहणं मल्लारुहणं वण्णारुहणं चुण्णारुहणं आभरणारुहणं* करेति ।

जीवाभिगमसूत्र १४२

बाद वह विजयदेव चार हजार सामानिक देवताओं के साथ तथा अन्य बहुत वाणव्यंतर देवों से घीरा हुआ सब ऋद्धि से, सब कान्ति से सभी वाजित्रों के साथ जहां सिद्धायतन है वहां आया। आकर सिद्धायतन को तीन प्रदक्षिणा देता हुआ पूर्व के द्वार से प्रवेश किया। और जहां देवच्छंदा है वहां आया। जिनप्रतिमा को देखते ही नमस्कार करता है। मोरपीछी लेता है। मोरपीछी लेकर जिनप्रतिमाओं को प्रमार्जता है। प्रमार्जन करके सुगंधीवाले जल से स्नान कराता है। स्नान करवा के अच्छा और सुगंधित वस्त्र से भगवान के शरीर कों पोंछता है। अच्छा गोशीर्ष चंदन का विलेपन करता है। विलेपन करके उपयोग नहीं किया हुआ और अखंड श्वेत ऐसे देवदूष्य की जोडी भगवान के शरीर के उपर ओढाता है और अच्छे सुगंधवाले मुख्य मालाओं से भगवान की पूजा करता है, पूजा करके पुष्प चढाता है। इत्यादि

तत्थणं जेसे उवरिम विडिमं एत्थणं एगे महं सिद्धायतणे कोसं आयामेणं अद्धकोसं विक्खंभेणं देसूणं कोसं उड्ढं उच्चतेणं

---

* इसी मुताबिक ही राथपसेणी सूत्र ४८ में सूर्याभदेव के अधिकार में है।

अनेकखंभसतसन्निविट्ठे वण्णाओ। तिदिसिं तओ दारा पंचधणुसता अड्ढाइज्जं धणुसय विक्खंभा मणिपेढिया पंचधणुसत्तियादेवछंदो पंचधणुसतविक्खंभो सातिरेगपंचधणुसतउच्चते तत्थणं देवच्छंदए अट्ठसयं जिणपडिमाणं जिणुस्सेधपमाणाणं। एवं सव्वासिद्धायतणवत्तव्वया भाणियव्वा जाव धूवकडुच्छुया।

जीवाभिगम, १५२

वहाँ जो उपर की शाखा है उसमें एक सिद्धों का निवास स्थान है, वह एक कोश लंबा और आधा कोश चौडा है, कुछ कम कोश उंचा है, अनेक शत स्तंभों के उपर है, तीन दिशा में तीन द्वार है और पांच सौ धनुष प्रमाण उंचाई, अढाई सौ धनुष प्रमाण चौडाई वाली मणिपीठिका है। उस के उपर पांच सौ धनुष का देवच्छंदा है। पांच सौ धनुष उंचा और पांच सौ धनुष विस्तृत उस देवच्छंदो में जिनेश्वर भगवान की उंचाई प्रमाण जिनेश्वर की एक सौ आठ मूर्तियाँ है। इस तरह सब सिद्धायतन कहना चाहिये, यावत् धूपदानी तक समझना।

धणिट्ठाहि सयभिसा साइ सवणो य पुण्णवसु एएसु गुरुसुसुस्सा चेइआणं च पूयणं। गणिविज्जा

धनिष्ठा, शतभिषक, स्वाति, श्रवण, पुनर्वसु, इन नक्षत्रों में गुरुकी सेवा और जिनमूर्त्तिओं का पूजन करना।

नियदव्वमपुव्वजिणिंदभवण जिणबिंबवरपइट्ठासु।
विअरइ पसत्थ पुत्थय सुतित्थ तित्थयरपूआसु॥३१॥ भत्तपइन्ना

अपने द्रव्य को अपूर्व जिनेन्द्र के भवन में उनके बिंब (मूर्त्ति) कराने में और उन की प्रतिष्ठा (स्थापना) में प्रशस्त ग्रन्थ रचना या लिखाने के लिये, उच्च तीर्थ में और तीर्थंकर देवों की पूजा के लिये उपयोग करें।

सोउण तं भगवओ गच्छइ तहिं गोयमो पहिअकित्तिओ।
आरुहइ तं नगवरं पडिमाओ वंदइ जिणाणं ॥

उत्तराध्ययननि अ. १०, गाथा २९१

भगवान् की बात सुन कर विस्तृत कीर्त्तिवाले गौतम स्वामी अष्टापद पर्वत के उपर गये और जिनेश्वर भगवान की प्रतिमा (मूर्त्ति) ओंको वंदन किया।

तिहिनक्खत्तमुहुत्तरविजोगाइयपसन्नदिवसे अप्पा वोसिरामि जिणभवणाइ पहाणखित्ते गुरुं वंदित्ता भणइ इच्छकारी तुम्हे अम्हं पंचमहव्वयाइं रायभोअणवेरमणछट्ठाइ आरोवावणिया ॥

अंगचूलिया

तिथि, नक्षत्र, मुहूर्त्त रवियोग आदि पवित्र दिन में आत्मा को वोसिरावे वह जिनभवन आदि प्रधान क्षेत्र में गुरु को वंदना करके कहते हैं—"मैं इच्छता हुं, आप हम को पंच महाव्रत और छठा रात्रिभोजन विरमण व्रत आरोपण करावें"।

भागवती दीक्षा जैसी मुख्य क्रिया भी जब जिनमंदिर में कराने के लिये शास्त्र में आज्ञा हो फिर भी मूर्त्ति को मानने के लिये शंका करना इससे फिर और कौनसी मानसिक बुरी दशा हो सकती है ?।

तेसिट्ठमे भवे मज्झविसएसु सावयवाणीयकुलेसु पुढो पुढो समुप्पज्जिस्संति तएणं ते दुवीसवाणीयगा उम्मुक्क बालवत्था विण्णाणपरिणयमित्ता दुट्ठा धिट्ठा कुसीला परवंचना खलु कापुव्वभवमिच्छत्तभावाओ जिणमग्गपडिणीया देवगुरुनिंदणया तहा रुवाणं समणाणं माहणाणं पडिदुट्ठकारिणा जिणपण्णत्तं तत्तमन्नहा परुविणो बहूणं नरनारी सहस्साणं पुरओ नियगप्पा नियकप्पियं कुमग्ग आवेवेमाणा पण्णवेमाणा जिणपडिमाणं भंजयाणं हीलंता खिंसंता निंदता गरिहंता परिहवंता चेइयतीत्थाणि साहुसाहूणीय उट्ठावइस्संति।

श्री वग्गचूलीया सूत्र

तिरसठवें भव में मध्यखंड में श्रावक बनियों के कुल में भिन्न २ उत्पन्न होंगे। बाद में वे बाईस श्रावक बाल्यावस्था का त्याग कर विज्ञान में परिणत, दुष्ट, धीठे, दुराचारी, लुच्चे, अविनयी, पूर्वभवके मिथ्यात्व से जिनमार्ग के विरुद्ध देवगुरु के निंदक तथारूप श्रमण ब्राह्मण के साथ शत्रुता करनेवाले, जिनेश्वरप्ररूपितधर्म को नही जाननेवाले, हजारों नर नारी के आगे कपोलकल्पित बातों को करने वाले, जिनप्रतिमाका नाश करने वाले, तिरस्कार करने वाले, तुच्छकार करने वाले, निन्दा करने वाले, गर्हा करने वाले, परिहरण करने वाले, चैत्य (जिनप्रतिमा) तीर्थ और साधुसाध्वी को उठावेंगे।

राया पुच्छइ किं मन्ने मया सम्मत्तं लद्धपुव्वं ? को अहं आसी ? ततो साहुणा आभोएउण भणिओ, सुणेहि उस्सभस्सअरहओ तित्थे साकेए नगरे धणदत्तो सत्थवाहो सावगो, तस्स

नंदा भारिया, तेसिं पुत्तो सुरिंददत्तो तस्स रुद्दत्तो बालवयंसो सो हि सुरिंददत्तो वाहणेण समुद्दमवतरिउंकामो बहुपच्चवाओ पवासोत्ति चिंतेउण रुद्दत्तस्स हत्थे तिन्नि कोडीओ जिणाययणपूयाए उवयोगं नेयव्वाओत्ति दाउणं गओ संवहारेणं दीवंतराणि.....तेणेय जं सुरिंददत्त निसिट्ठ चेइयट्ठाए दव्वं विणासियं तेण जिणबिंबपूयादंसणाणं कितहियाणं भवसिद्धिआणं सम्मदंसणा सुयओहिमणपज्जवकेवलनाणनिव्वाण लाभा पडिसिद्धा इत्यादि ॥ प्रथम अनुयोग

राजा पूछता है कि मैं क्या मानुं ? मैंने सम्यक्त्व की प्राप्ति पूर्व में की थी ? मैं कौन था ? बाद में साधुजी उपयोग से देख कर बोले—सुनो, ऋषभदेव भगवान के तीर्थ में साकेतनगर में सार्थवाह धनदत्त श्रावक की नन्दा नामकी भार्या थी। उसका लडका सुरेन्द्रदत्त नामका था, उसको रुद्रदत्त नामका बालमित्र था। वाहन समुद्र पार करने की इच्छावाला वह सुरेन्द्रदत्त बहुत विघ्नमय प्रवास का विचार करके रुद्रदत्त के हाथ में तीन करोड जिनेश्वर भगवान की पूजा के लिये काममें लेना ऐसा कह कर और देकर व्यापार के लिये द्वीपान्तर को गया। चैत्यके लिये दिये हुए सुरेन्द्रदत्त के द्रव्य का रुद्रदत्तने विनाश किया, इस कारण से भवसिद्धिओं का किया है हित जिसने एसे जिनबिंब की पूजा और दर्शन के अंतराय से सम्यग्दर्शन, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव, केवलज्ञान और निर्वाण के लाभों का प्रतिषेध किया। इत्यादि। समाप्तं।

लोंकाशाह मत समर्थन का पर्यालोचन।

सत्यता का आदर्श चारित्रमार्गप्रदर्शक दयासागर जैन धर्म का सिद्धान्त, जिनेश्वर प्रभु के प्रतिबिम्ब को और उस के स्तवन पूजन को बडे ही आदर से मानता आया है और मान रहा है। जैनों की प्राचीनता की सिद्धि भी इस ही पर निर्भर है सेंकडो वर्षों की प्राचीन मूर्तियां इस सच्चे सिद्धान्त की सबूती है। काल-चक्र की गहनगर्ता में से अनेकशः अनेको दैत्य उत्पन्न होते हैं और मानव जीवन की मानव प्रकृति में कुधर्म का प्रचार कर दानवता की वृद्धि करते हैं। इस नियम मुजब चलते हुए मूर्तिपूजन के सिद्धान्त को उडानेवाला **लोंकाशाह** नामका एक लिखारी सोलहवीं सदी में उत्पन्न हुआ, जिसका कारण उनकी लिखने की रोजी बंद होना ही माना जाता है। वे जिस श्वेता-म्बर मूर्तिपूजक महात्माओं का ज्ञान भंडार का लिखने का काम करते थें उनको अधूरे पुस्तक लिख देते थें और पूरा पैसा लेते थें, यह ढूंढक लोगों के आदि पुरुष की अनीति थी। किसी वख्त पाठ देखने के लिये भंडारो में से लोकाशाह के लिखे हुए पुस्तक को निकाला, तब बीच में से अधूरा पाया गया। उस दिन से उन को रजा मिल गइ। जैन का हमेशां काम करने से और गुरु सहवास से कुच्छ २ जैन धर्म का थोडा बहुत ज्ञान था और टब्बा वगैरह लिख पढ जानते थें इस बल पर **लिंबडी** नरेश के मंत्री से मिल कर इस झूठे मत का प्रचार शुरु कर दिया। कोइ साधु न होने से मत का ज्यादा प्रचार नहीं हुआ

पीछे से इस परंपरा में साधु भी होने लगे बाद इसी पन्थ में मुख बांध कर लवजी नाम के ढूंढक साधु सं. १७०९ में हुए इन से ढूंढक पन्थ चला और जहां संवेगी साधु नही पहुंचे वहां २ अपने धर्म का प्रचार करने लगे। इस तरह से सनातन प्रभु मूर्त्ति के विरुद्ध प्रचार के कारण हजारो आदमीयों को धर्म की श्रद्धा से भ्रष्ट किया इस लोंकाशाह की तारीफ में सेलाना वासी रतनलाल डोसी ने विक्रम संवत् १९९६ की साल में लोंकाशाह मत समर्थन नाम की एक पुस्तिका जाहिर की है, जिस में लेखक हमारे प्रखर विद्वान् जैनधर्मोद्धारक पंजाब में कुमत का जडमूल से नाश करने वाले, पवित्र तारक, जिनमूर्त्ति की हजारों के दिल में श्रद्धा बैठाने वाले न्यायांभोनिधि **श्रीमद्विजयानंदसूरीश्वरजी** महाराज जैसे पवित्र पुरुष के लिये भी यद्वा तद्वा लिखने से नही हटे, और तारा जैसे मात्र चांद के ही सामने नही सूर्य के सामने भी अपनी ज्योति को पेश करता हुआ अपनी रही सही ज्योति को गुमाता है ऐसा ही काम इस भाइ साहिब ने किया है, कहां न्याय, व्याकरण, काव्य, कोश, छंद, तथा सिद्धान्त के पूर्ण विद्वान्, और कहां "कहीं की इंट कहीं का रोडा भानुमति ने कुनबा जोडा" जैसा मामुली जानकार रतनलाल डोसी। एक वामन आदमी उन्नत वृक्ष के फल लेने को उंचा हाथ करें ऐसा ही रतनलालजी ने किया है। अब हम उनकी पुस्तिका का समयाभाव से सविस्तर नहीं किन्तु 'स्थालीपुलाक' न्याय से समालोचन करतें हैं। पाठक ध्यान से पढें और लाभ उठावें। पूर्वोक्त पुस्तिका के पृष्ट १ से पृष्ट ६ तक साधु के महाव्रत और

गृहस्थों के बारह व्रत का जिक्र चला कर परिणाम में यह बतलाया कि इस में कहीं मूर्त्ति का नाम भी नहीं है। इस लिये मूर्त्ति-पूजा शास्त्र सिद्ध नहीं है। इस का उत्तर इतना ही बस है कि हमारे बताए हुए पूर्व के सब पाठ देख लें, हम को बडा अफ-सोस होता है कि इतने २ पाठ होने पर भी ऐसा बोल देना कि मूर्त्तिपूजा सूत्र में नहीं है यह कैसा पागलपन है इस में इन का दोष नहीं है मात्र पूर्व के बन्धे हुए मिथ्यात्व से इन की आंखें बन्ध हो गइ है और जैसे कोइ जन्म से अन्धा मनुष्य हो वो कहे कि जगत में सूर्य नहीं है अथवा उल्लुओंकी पुकार ऐसी ही हमेशह से जारी है कि सूर्य नहीं है, उसी तरह इन का कथन है, एवं सूत्र बत्तीस ही नहीं, नंदी सूत्र में बत्तीश के उपरान्त अनेक सूत्रों का नाम हैं उन सूत्रों में विस्तार से प्रभुपूजा का वर्णन है और बत्तीस भी इस के जिक्र से खाली तो है ही नहीं, फिर कैसे कह सकते हैं कि शास्त्रो में प्रभुपूजा का विधान नहीं है। बत्तीस सूत्र में नौकार गिनने की विधि और फल नहीं, वीश विहर-मान का जिक्र नहीं, जंबू स्वामी की पूर्ण त्यागमय चरित्रावली नहीं ऐसी २ अनेक बातें नहीं होने पर भी मानी जाती है और जिस मूर्त्तिपूजा का जिक्र अनेक सूत्रो में आता है उस को उडाना चाहते हैं, यह क्या कम मूर्खता है ?।

पृष्ट ७ वे में लिखते हैं कि "मूर्त्तिपूजा आगम विरुद्ध है इस के लिये तीर्थंकरों ने सूत्रों में विधान नहीं किया" इस का उत्तर भी हमारे पूर्व के विशाल लेख से मिल जाता है।

पृष्ट ८–१६ तक में द्रौपदी का पूजा प्रकरण जो श्री ज्ञातांगजी में आता है इस पर विचार चलाया है, उस विचार में डोसीजी लिखते हैं कि द्रौपदी ने कामदेव की पूजा की, हम पूछते हैं कि कामदेव की पूजा में नमुत्थुणं का पाठ क्या बोल सक्ती है? नहीं, तीर्थंकर प्रभु की स्तुति की अद्भुत रचनावाले नमुत्थुणं में काम की जड से उखेड कर गिरानेवाले विचार हैं 'तीन्नाणं तारयाणं' हे प्रभो आप तरे हो और अन्य को तारते हो ऐसे आप को हमारा नमस्कार हो, कामदेव की मूर्ति होती तो 'डुब्बाणं डोबयाणं' आता, अर्थात् तुम डुबे और अन्य को डुबाते हो। आगे जा कर 'अभयदयाणं बोहीदयाणं' अभयदान के देने वाले बोधि देनेवाले को मेरा नमस्कार हो एसे न कहती, किन्तु 'पतिदयाणं धनदयाणं सासुदयाणं ससुरदयाणं' पति देनेवाला धन देनेवाला सासु देनेवाला ससरा देनेवाले तुझे नमस्कार हो ऐसा बोलती। हा! मिथ्यात्व!! तेरी अजब लीला है भलभले को तूं भुलाता है। फिर रतनलाल डोसी जैसे भूलभूलैयां के चक्कर में फँस जाय तो इस में आश्चर्य ही क्या! गणधर महाराज की सूत्र रचना में जिनेश्वर की मूर्त्ति न होती तो "आलोए जिणपडिमाणं पणामं करेइ" ऐसा न लिखते परंतु "आलोए काम पडिमाणं पणामं करेइ" ऐसा ही वाक्य लिखते, क्योंकि गणधर महाराज जैसे चार ज्ञान और चौदपूर्व के स्वामी, ऐसे भ्रान्त शब्द का प्रयोग ही नही कर सक्ते, कोशकार, यद्यपि तीन लोक के नाथ का वाचक जिन पद को अन्यान्य शब्दों में काव्यकार की सुगमता के लिये भले प्रयोग करते रहें परंतु गणधर

महाराज जिन के चरण के अनन्य भक्त है उन के पवित्र नाम का काम के बदले सीधा गद्य ग्रन्थ में कभी भी प्रयोग नहीं कर सक्ते हैं। वाममति स्थानकवासीयों को ही कामशब्द प्रयोग की तरफ मति प्रविष्ट होने के कारण जिनमूर्त्ति की शत्रुता है, सूत्र में किसी ठिकाने काम के नाम से जिनशब्द का प्रयोग नहीं दीखा गया तो फिर इस ठिकाने ऐसी कुकल्पना क्यों की जाती है? अकलमंद खुद ही समझ सकते हैं कि जिनमूर्त्ति का विरोध ने ही उन्हें उल्टे रस्ते चढा दिया है। द्रौपदी का मंद नियाणा था अतः उस के समकित में जरा भी हरकत नहीं आई इस बात की सिद्धि उस की जिनपूजा की प्रीति ही कर रही है, जिस का तीव्र नियाणा होता है उस को निदान प्राप्ति के भव में चारित्र का उदय ही नहीं आता जैसे ब्रह्मदत्त चक्रवर्ति को, उन के पूर्व जन्मके भ्राता ने हजारों तरह उन को समझाया मगर नहीं समझ सका, ऐसे द्रौपदी को भी संयम की प्राप्ति कभी भी नहीं होती, अतः सिद्ध होता है कि निदान मंद था "अल्पाक्षरैर्बह्वर्थं सूचयति—वेष्टयतीति सूत्रम्" थोडे अक्षरों में बहुत अर्थ को बताने वाला सूत्र होता है उस में एक वार प्रभुपूजा का वर्णन किया गया तब दुबारा उस व्यक्ति के साथ उस उल्लेख की जरूरत नहीं रहती जैसे तुङ्गीया नगरी के श्रावकों ने साधु को एकवार वंदना की ऐसा जिक्र है तो क्या ऐसा कहा जाय की दूसरे समय उन को वंदना नहीं की होगी? हरगिज नहीं। प्राचीन प्रति इन्दोर के भंडार में हम को कनकमलजी श्रावक ने पैंतीश वर्ष पहिले दिखाई थी जो विक्रम संवत बारह सौ

की थी जिस में नमुत्थुणं का पाठ था इसलिये अनेक भंडारे में प्राचीन प्रतिआं नमुत्थुणं वाली होने में शंका करनी व्यर्थ है, और "जिणपडिमाणं पणामं करेइ"का पाठ आया जब तो प्रभुपूजन के साथ ही भावपूजा में नमुत्थुणं जुडा हुआ ही है इसलिये श्री अभयदेवसूरि महाराज वाचनान्तरे तु कह कर नमुत्थुणं फरमाते हैं तो हम को वह वाचना भी अवश्य मान्य ही होनी चाहिए। अभयदेवसूरि महाराज की ओट लेनी और उन की बात को न माननी यह कैसा आश्चर्य ? चरितानुवाद के साथ विधि अनुवाद मिले तब तो बल दों गुना बढ जाता है। मूर्तिमंडन में लिखे हुए महानिशीथ के पाठ को विधि अनुवाद में भी हमारे पाठक वांच चुके हैं इस लिये केवल चरितानुवादपर ही हमारी सिद्धि नहीं है। और अभयदेवसूरि महाराज का "न च चरितानुवादवचनानि" आदि वाक्य संपूर्ण चैत्यवन्दन करने का विधान करता है केवल नमुत्थुणं कह कर उठ न जाना इस से तो उल्टा प्रभुपूजा को साङ्गोपाङ्ग सिद्ध किया है। इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि द्रौपदी का लग्न समय में किया हुआ पूजन भवोदधि तारिणी श्री जिनेश्वर भगवान की मूर्ति का ही पूजन था। और यह कृत्य परम धर्ममय होने से श्रावकों को सदैव करणीय है। मुनिजनों को उस हृदयहारिणी भवतारिणी जिनमूर्ति के दर्शन और स्तवना रूप भावपूजा करनी सदैव के लिये समुचित है।

पृष्ट १६ से २१ तक में सूर्याभदेव के प्रभुपूजन पर खोटे कुतर्क लगा कर अपना उल्लु सीधा किया है, जिस का उत्तर नीचे

मुजब है। सूर्याभदेव के चारित्र से बराबर तीर्थंकरों की मूर्तिपूजा साबित होती है उस का मानना सम्यक्त्व है और न मानना मिथ्यात्व है। सूर्याभदेव ने तीर्थंकर देव की मूर्त्ति की ही पूजा की है। उस मूर्त्ति को अन्य की मानना महामिथ्यात्व है। क्योंकि "धुवं दाउं जिणवराणं" इस पाठ से मूर्त्ति को जिनेश्वर भगवान कह कर नवाजा है। इस से ही तो "जिन पडिमा जिन सारीखी" कही जाती है। दूसरी वस्तु का पूजना यह तो उस के लोकाचार की बात है जैन क्षत्रीय लोग जिनमूर्त्ति की पूजा करें और पीछे वार पर्व में अपने खड्ग आदि को भी पूजते हैं, इस से यह कैसे सिद्ध हो सकता है कि तोरण वावडी नागदंता की पूजा करने से पहिले की पूजा तीर्थंकर की नहीं थी। आज भी श्रावक लोक प्रथम जिनराज की मूर्त्ति को पूजन कर पीछे से शासनाधिष्ठायक आदि की पूजा करते हैं धन तेरस को धन भी धोते है और उसे केसर भी छांटते है, इससे क्या बाधा आई? और जिण पडिमाणं का प्रथम तो यह उंधा अर्थ किया कि जिन नाम काम देव का है यहां सूर्याभ की पूजा के अधिकार में तो जिणवर शब्द आता है जो केवल तीर्थंकर भगवान का वाचक है यहां तुम्हारी जाल जम सके ऐसी नहीं है। और तीर्थंकर चौवीश होते हैं यहां ऋषभ, चन्द्रानन, वारिषेण और वर्धमान ये चार नाम क्यों? इस विषय में रतनलाल के जितने कुतर्क है, अज्ञान निर्मित हैं, कारण कि चौवीश तीर्थंकर अवसर्पिणी में और चौवीश उत्सर्पिणी में और अनियमित अनेक नोउत्सर्पिणीअवसर्पिणी काल में होते

हैं; उनमें ए चार नाम शाश्वत हैं कोई भी काल इन चार नामों से खाली न होने से अर्थात् चार में से एकाध नाम तो चौबीशी आश्रित जारी ही रहता है, इस वास्ते ये मूर्त्तियां शाश्वती है ही हैं मगर ये नाम भी इस अपेक्षा से ऐसे ही हैं, इसलिये चौबीश तीर्थंकर के नाम की ये मूर्त्तियां नहीं मगर चार नाम की ही होती हैं। जैसे भरत चक्रवर्ती अशाश्वत तथा भरत क्षेत्र शाश्वत है ऐसे तो अनेक उदाहरण हो सकते हैं इसलिये इस विषय में तुमने जो जाल बिछाई है वो कट जाती है, और सूत्र में जिणवर शब्द है वो शब्द भी उन्ही की मूर्त्तिओं को सिद्ध करता है। परदेशी राजा श्रावक हुआ इसी से जिनेश्वर भगवान की मूर्त्ति का उपासक था। पूजारूप दिनकृत्य को कभी नहीं छोडता था यह तो अर्थापत्ति से ही प्राप्त होता है। गंभीर सूत्र की रचना में अर्थापत्ति से प्राप्त विषय को लिखे तब तो उस की गंभीरता ही नष्ट हो जाती है, यह बात निरक्षर पक्षपातिओं को मालूम न पडे तो उन के कर्म का ही दोष है। सूर्याभदेवता विचार करता है कि "किं मे पूव्विं सेयं किं मे पच्छा सेयं किं मे पूव्वं करणिज्जं किं मे पच्छा करणिज्जं" ? इस के जवाब में उस के सामानिक देव कहते हैं कि पूर्व और पश्चात् जिनेश्वर प्रभु का पूजन ही करणीय है इस भव में और परभव में यही सुखकर हितकर कल्याणकर है, इसी से सूर्याभ हमेंशां प्रभुपूजा करता था यह साबित होता है पूर्व और पश्चात् शब्द समझने के लिये गुरुगमता की जरूरत है। आगे चलकर यादगार के लिये फोटा बना लिया जाय तो

बाधा भी क्या लिखना नरी मूर्खता है क्योंकि सूर्याभदेव ने जिन तीर्थंकरों की मूर्त्तियों की पूजा की है वे शाश्वती मूर्त्तियां हैं ऐसा आज तक ढूंढियें भी कबूलते आये हैं अब नये जमाने के रतनलालजी नयी नयी बात ही लिखते हैं तुमारे गुरु विहार करते हैं नदीएं उतरते हैं या होडी से पार होते हैं उस में भी असंख्यात जीव मरते हैं इन सब हिंसा को धर्म मानना, और प्रभुपूजा से बारह कोश भागना अथवा उत्सूत्र प्ररूपणा करनी यह बडा ही भारी तुम्हारा मृषावाद है, और आत्मा का अधःपतन करने की सामग्री है, शासनदेव सन्मति समर्पण करें।

पृष्ट २२ से ३६ तक में आनंद श्रावक की चर्चा चला कर खूब कपोल कल्पित मन मानी बातें लिखी हैं और जिनमूर्त्ति वैरिशेखर ने अपनी मूर्खशेखरता बताई है जिनका उत्तर नीचे मुजब समझना चाहिए।

शुरुआत में डोशीजी ने उपासक दशांग का मूल पाठ लिख कर उस पर विवेचन की झड़ी लगाई है "नो खलु मे भन्ते कप्पइ अज्जपभइ अन्नउत्थिएवा" यह सारा ही पाठ हम ने उपासक दशांग के अधिकार में मूर्तिमंडन में लिख दिया है वहां से मिला लेना फर्क मात्र उन के और हमारे अर्थ में है। "अन्न उत्थिअ परिग्गहियाणि वा चेइयाणि अ" पद का अर्थ डोशी जी अन्य तीर्थिके ग्रहण किये हुए साधु ऐसा करते हैं हमारा अर्थ अन्य तीर्थि की ग्रहण की हुई अरिहंत भगवान की मूर्ति उस को वंदना नमस्कार नहीं करुं ऐसा है इस से स्वतंत्र अपने ताबे में रहे हुए मंदिरो में

जो भगवान की मूर्त्तियां हैं वे वंद्य नमस्कार्य और पूज्य हो सकती हैं इस से आनंद श्रावक प्रभुमूर्त्ति की पूजा करता था, ऐसा हम साबित करना चाहते हैं, डोसीजी चेइय शब्द का अर्थ साधु करते हैं यह उन का मन कल्पित अर्थ है किसी कोश में चैत्य का अर्थ साधु नहीं किया और चैत्य का अर्थ मूर्ति तो जैन और जैनेतर के बने हुए कोशों से सिद्ध है शास्त्रीय विषयो में मनःकल्पना काम नहीं आ सकती, और युक्ति भी चेइयाणि का अर्थ मूर्त्तिही है ऐसा सिद्ध करती है सो दिखलाते हैं, अन्य तीर्थि के ग्रहण किये हुए साधु को वंदना नमस्कार नहीं करुंगा ऐसे अर्थ का समन्वय नहीं हो सकता है, क्योंकि—अन्य तीर्थी जैन साधु को ग्रहण करे इस का अर्थ पकड लेवे, अपने गुरु तरीके माने, या साधु पद से भ्रष्ट करडाले ऐसा हो सकता है, यहां पर विचार करने से मालूम होता है कि मूर्त्ति से बारह कोश दूर भागनेवाले स्थानकवासीयों की तरफ से किया जाता हुआ अर्थ सर्वथा अयुक्त है, क्योंकि पकडलेने से साधु की साधुता नहीं चली जा सकती जिस से वे अवंद्य हो सके, या उनके वंदन से मिथ्यात्व लगे और जैन साधु को अपने गुरु मानें तो इस से जैन धर्म का गौरव है, इस से तो विशेष वंद्य हो सकते हैं, और आखिर के विकल्प में तो साधु पद से भ्रष्ट करडाला अब वह साधु ही नहीं तब ग्रहण किया हुआ साधु ऐसा बोल ही नहीं सकते क्योंकि विद्यमान काल में वह साधु ही नहीं।

अन्य तीर्थी ने ग्रहण की हुई अरिहन्त की मूर्त्ति, जो चैत्य शब्द का सच्चा अर्थ है इस अर्थ का समन्वय अच्छी तरह से हो

सकता है और आज तक ऐसे बनाव बनते भी आये हैं पंजाब होश्यारपुर के नजदीक कांगडा में ऋषभदेव भगवान की मूर्त्ति को जैनेतर लोग अपने काबू करके तेल सिंदूर चढाते हैं और अपने देव का नाम देकर पूजते हैं ऐसी मूर्ति को जैन माने तो जैनेतर ऐसा बोले कि हमारे देव को ये लोग मानने लगे तब मिथ्यात्व लगने का संभव है। जैन साधु अपने जैनवेष से ही प्रसिद्ध है साधु पर तेल सिदूर चढा कर उन की सूरत शकल बदल भी नहीं सकते हैं और उपर का रङ्गढङ्ग भीतर की साधुता को बिगाड नहीं सकता जैन मूर्त्तिओं को तो कोई भैरव तो कोई क्षेत्रपाल तो कोई अन्य किसी नाम से मानते पूजते अनेक मिथ्यादृष्टि नजर पडते हैं अन्त में सारांश यह है कि चेइय का अर्थ किसी तरहसे साधु नहीं हो सकता है वास्तविक और प्रकरण संगत प्रभुमूर्त्ति का अर्थ ही सच्चा अर्थ है।

प्रभुमूर्त्ति के साथ बोलना चालना यह उपचार से सिद्ध है और नैवेद्य में आहार की असणं आदि चीजें आ जाती है इससे ये व्यवहार मनुष्य आश्रित ही बन सकता है कह कर मूर्त्ति का विरोध करना स्वर्ग और मुक्ति का ही विरोध करना है। अगर चार वस्तु के साथ विधान हो और उसमें जो वस्तु विधेय है उस विधेय का जिसके साथ संबंध लगे उसी के साथ लगा देने में हरकत नहीं आ सकती इसलिये मूर्त्तिविरोधियों की जितनी कल्पनाएं है वे सब व्यर्थ हैं "असणं पाणं खाइमं साइमं वंदित्तए नमंसित्तए" ये सब संक्षेप से पूजा की सकल सामग्री को कह रहे हैं।

श्री विजयानंद सूरीश्वरजी गुरुदेव ने जो बाते समकित शल्योद्धार में लिखी हैं अक्षरशः सत्य हैं क्योंकि उपासक दशांग के इस पाठ से जैन चैत्य की सिद्धि होने से समवायांग की नोध का चैत्य शब्द भी जैन चैत्य ही सिद्ध हो गया पीछे गौणता से भले ही यक्ष के चैत्य भी लिये जाय तो कोई हरकत नहीं। पूज्यपाद गुरुदेव समवायांग की नोध तरफ ज्यादा जोर इसलिये देते हैं कि इस से पूजा के ज्यादा विस्तार का साधन मिलता है इस का अर्थ यह नहीं कि उपासक दशांग में नाम मात्र भी मूर्त्ति का विषय नहीं और ऐसा होता तो आप उपासक दशांग का पाठ ही क्यों लिखते इसी तरह अन्य सूत्रों की नोंध के विषय में भी समझ लेना। अंबड संन्यासी ने भी अरिहंत की मूर्ति को ही मान्य रक्खा है इसकी पुष्टि भी पूर्व लिखित आनंदश्रावक के अधिकार की तरह समझना। अन्य तीर्थि को वंदनादि न करने के कथन में अन्य तीर्थ शब्द से अन्य के साधु तो आ ही जाते हैं फिर उनकी पृथक् सूचना करनी व्यर्थ है और अन्य तीर्थी के वंदन का अभाव ही स्व तीर्थिवंद्य साधुका वंदन सिद्ध करता है तो फिर चैत्य शब्द का अर्थ बिगाडकर झूठा साधु अर्थ करना किसी तरह घटित नहीं है। और अन्य तीर्थी के ग्रहण से जैनमूर्ति को जैनपने माने तब तो बेशक प्रशंसा के योग्य है परंतु जब उसको भैरवरूप से माने और हम वंदन करे तब मिथ्यात्व की पुष्टि होना साफ साफ साबित है। और चैत्य का साधु अर्थ करना केश, अनुभव और युक्ति से भी सर्वथा बाधित है, और सिद्धान्तों में मूर्त्तिपूजा कहीं भी नहीं हैं ऐसा कहना उल्लुओं का गगन में सूर्य नहीं है इस कथन के जैसा है।

पृष्ट ३७ में चारणमुनि की बाबत भी एक पक्षीय लेख लिख कर जनता को भ्रम में डाल दिया हैं। कारण कि रतनलालजी प्रथम लिखते हैं कि यह शक्ति की बात है अर्थात् कोइ जाता आता नहीं। जो यह बात सच्ची होवे तब तो "तहिं चेइआइं वंदइ" वहां चैत्यवंदन करते हैं, और चैत्यवंदन करके यहां आते हैं, ऐसा लिखा हुआ न रहता किन्तु जा सके, आ सके, प्रभुवंदन कर सके, ऐसा लेख रहता। इसलिये यह शक्तिमात्र की कल्पना करना झूठ है "चेइयाइं वंदइ" दोनों शब्द स्तुत्यर्थ हो ही नहीं सकता क्योंकि एक कर्म और दूसरी क्रिया है, याने चेइयाइं अरिहंत के बिम्ब को, यह कर्म है और वंदइ यह स्तवनात्मक क्रिया है इससे साफ साफ साबित होता है कि जंघाचारण विद्याचारण महामुनियों ने भी भगवान की मूर्त्तिओं के दर्शन नमन स्तवन किये हैं जो बडे ही हीनभाग्य गुरुकर्मी जीव होते हैं वे ही प्रभुमूर्त्ति की निन्दा गर्हणा करते हैं उस स्थान की आलोचना का भाव इरियावही ही है सो गुरुगमता लेने से मालूम होगा कि आलोचना तो गोचरी लेकर आये उसकी भी है, इससे यह अकर्तव्य नहीं हो सकता है, वैसे जिनमूर्त्ति के चैत्यवंदन के बाद उपाश्रय में आकर इरियावही करनी पडती है इस से चैत्यवंदन दूषित नहीं हो सकता है।

पृष्ट ३८ से ४४ तक चमरेन्द्र और तुंगीया का विषय लिया गया है। इसमें भी मनघडंत बातें कम नहीं हैं।

चमरेन्द्र ने मूर्त्ति का शरणा लिया ऐसा कोई नहीं बोलता, नाहक्कमें रतनलालजीने कागज काला किया है, झूठा इलजाम का यही

जवाब हो सकता है। यह बात ही हम मूर्त्तिपूजकों को मान्य नहीं है, हम भी छद्मस्थावस्था में रहे हुए महावीर प्रभु का शरण लिया ही स्वीकारते हैं, इससे मूर्त्ति की मान्यता में किसी तरह की हरकत नहीं आ सकती। मूर्त्ति खूद पराधीन है आततायी पुरुष उसका नाश कर डालता है वह हमारा रक्षण क्या कर सकती है? इसका उत्तर तो इतना ही बस है कि तुम्हारे गुरुओं का पेट तुम ही भरते हो या ग़ैर कोम के मनुष्य भरते हैं और आततायी उनके भी नाक कान काट डालते हैं और जानसे भी उडा देते हैं तो फिर ऐसे गुरु तुम्हारा क्या कल्याणकर सकता है? अगर इन बातों के होने पर भी गुरुसे कल्याण मानते ही हो तो प्रभु की मूर्त्ति जरूर कल्याण कर सकती है। और वह चार शरण लिये जाते हैं उन में से अरिहन्त के शरण में दाखिल की जा सकती है। क्योंकि वह भी निक्षेपसे अरिहन्त ही है।

तुंगीया नगरी के श्रावक का अधिकार भगवतीजी सूत्र के दूसरे शतक में आता है, इसमें "कयबलि कम्मा" शब्द का अर्थ किया है पूजना जिन्हों ने इस से प्रभु की मूर्त्तिओं की पूजा करनेवाले सिद्ध होते हैं यह बात रतनलालजी को ठीक नहीं लगती, क्यों कि उनके लिये पूजा शब्द दिल डोलानेवाला हो जाता है। पूजा शब्द देखा कि ढूंढियों का दिल धूजा, यह बात अक्षरशः रतनलालजी सिद्ध करते हैं। हमारे परम गुरुदेव **श्रीमद्विजयानन्दसूरीश्वरजी** महाराज ने तुंगीया नगरी के श्रावकों की बडी मजबूती बताकर लिखा कि उन्होंने अपने२ गृहों में रही हुई जिनमूर्त्तिओं का पूजन किया है तब रतनलालजी गौत्रदेव आदि की पूजा की ऐसे, ठहराते हैं हमको बडा अफसोस

है कि ये लोग ऐसी नीच दशा पर क्यों जाते हैं, गोत्रदेव की पूजा करे तो इनको खुशी होती है और तीन लोक के नाथ जिनराज की पूजा से नाराजी होती है बस इस सारे ही प्रकरण में इसी बात पर जोर लगाया है कि अन्य देवताओं की पूजा सिद्ध हो और जिनराज की पूजा की सिद्धि न हों। हाय ! हाय ! जिनके शासन में रहना उन्ही की मूर्त्तिपूजा का द्रोह ? कैसा जुलम ! नूरीये जमालीये पामर की पूजा करो, हरकत नहीं, खबरदार ! जिनराज का नाम नहीं लेना। आह भले मनुष्यों ! तब तो तुम को भी कहा जाता है कि नरक तिर्यक् गति सिवाय और गति में जाने का नाम मत लेना और लेना हो तो प्रभु-पूजा में दिल देना। भरतचक्रवर्त्ती आदि चक्री वासुदेव और रावण आदि प्रतिवासुदेव का हिसाब जुदा था और तुंगीया नगरी के श्रावक का हिसाब जुदा था। कोई भी हमारा साधु कुत्सित देवी देवताओं को नहीं मानता नाहक की गप्प मत लगावो।

पृष्ट ४५ से ५१ तक में चैत्य शब्द के अर्थ की मगजमारी की है, सार कुच्छ नहीं निकाल सके। भले ही चैत्य शब्द के अनेक अर्थ हो परन्तु सूत्र के पाठो में प्रभुमूर्त्ति का ही विशेष अधिकार आता है, चैत्य शब्द केवल ही हो तो मूर्त्ति और व्यन्तर यक्ष आदि शब्द आदि में रक्खे हुए हो तो उनकी मूत्तिओं को भी ले सकते हैं बाग का नाम चैत्य तो जिस बाग में यक्षादि का मंदिर हो उसी बाग को चैत्य कह सकते हैं अन्य को नहीं, इस से कोई अर्थ बढा नहीं, व्याकरण शास्त्र शिरोमणि न्यायविशारद **हेमचंद्राचार्य** महाराज के कोश के अनुसार ही हमारे पूज्य गुरु देव श्रीविजयानंदसूरीश्वरजी महाराजने

अर्थ लिखा है, और इन तीन अर्थके योग से ही अनेक अर्थ बन जाय तो भी मुख्य इन तीनों अर्थ का प्रभाव है, इसलिये पूज्य गुरु-देवजी का लिखना बराबर है। सूत्रो में अमुक भगवान के इतने अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी ऐसा पाठ है, मगर इतने अवधिचैत्यी मनःपर्यवचैत्यी नहीं आता ऐसे ही केवल साधुपद के लिये कहीं भी चैत्य शब्द का उपयोग नहीं किया, इससे सिद्ध होता है कि चैत्य शब्द का अर्थ साधु और ज्ञान करके स्थानकवासी लोग प्रभुमूर्त्ति से विरोध करने के व्यसन को पुष्ट कर रहे हैं और आभिनिवेशिक मिथ्यात्व को सिद्ध कर रहे हैं, अन्यथा अनेक अर्थों में चैत्य शब्द का अर्थ प्रभुमूर्त्ति भी हो सकता है उसको क्यों नहीं मानते, कहना ही होगा कि अभिनिवेश मिथ्यात्व नहीं मानने देता, प्यारे बंधुओ! अभिनिवेश को छोडिये और प्रभु की आज्ञा में प्रीति को जोडीये, नाहक में इधर उधर कुतर्क के मार्ग में मत दौडिए।

पृष्ठ ५२ से ५७ तक में रतनलालजीने टीका, भाष्य, चूर्णी और निर्युक्ति को जितना जोर लगे उतना जोर लगाकर उनको अप्रमाणिक साबित करने का भरसक प्रयत्न किया है मगर जैसे सूर्योदय के प्रकाश का उल्लू अभाव सिद्ध करे ऐसा है, अर्थात् जिसका अभाव सिद्ध करना है उसकी हयाती में उसकी आंखे ही मीच जाती है तो फिर उसके नास्तित्व को कैसे दिखला सकता है। इसी तरह निर्यु-क्ति के महत्व को समजने की आंख ही जब खो बैठे हैं तो वो उसकी समालोचना ही क्या कर सकते हैं। कितने विशाल ज्ञान से निर्युक्ति की रचना का भान हो सकता है, उसका ज्ञान निरक्षर भट्टाचार्योंको

कैसे हो सकता है। मात्र जिसके द्वारा मूर्त्तिमंदिर सिद्ध हो जाव उसी को निंदना है कुच्छ तत्त्वदृष्टि का विचार थोडा ही करना है ? आहा ! हा !! हा !! एक एक पद पर कैसा सुन्दर विचार, कैसा निक्षेप वर्णन, कैसा सूत्ररहस्य—स्फोट, श्रुतकेवलीयों के सिवाय ऐसी गंभीर रचना कौन कर सके और कह सके, ऐसे ग्रन्थों को युक्तिहीन कहनेवाले मूर्ख शिरोमणि ही कहे जा सकते हैं। श्रेणिक महाराज रोज १०८ स्वर्णजवों से स्वस्तिक निकाल कर भगवान की अग्रपूजा करते थें यह लेख भी उनको नागवार (अरुचिकर) मालूम हुआ और ताने मारने शरु करे अगडंबगडं उत्पटांग एसा लिखमारा है कि—थोडीसी अक्कल रखनेवाला आदमी भी समझ सकता है कि—लेखक को पक्षपात से अन्धापन आया है। और युक्तियुक्त बात भी नहीं सूझी है। वो लिखते हैं कि एक तरफ तो ये लोग किसी प्रकारके विधान विना ही मूर्त्तिपूजा करने से बारहवाँ स्वर्ग प्राप्त होने का फल विधान करते हैं। और दूसरी तरफ श्रेणिक को १०८ स्वर्णजव सें पूजने की कथा भी कहते हैं, इस हिसाब से तो श्रेणिक को स्वर्ग प्राप्ति होनी ही चाहिये, जब कि मामुली चावलों से पूजनेवाला भी स्वर्ग में चला जाता है तो स्वर्णजवों से पूजनेवाला देवलोक में जाय इस में आश्चर्य ही क्या? किन्तु हमारे प्रिय पाठक यदि आगमों का अवलोकन करेंगे या इन्हीं मूर्त्ति-पूजक बन्धुओं के मान्य ग्रन्थों को देखेंगे तो आप श्रेणिक को नरकगमन करनेवाला पायेंगे इसी से तो ऐसे कथानक की कल्पितता सिद्ध होती है। पाठक ख्याल रखिये ! मूर्त्तिपूजा करनेवाला बारहवाँ स्वर्ग प्राप्त करता है ऐसा हमारा कोई सिद्धान्त वाक्य नहीं है हां ! जिनमंदिरों से

मंडित पृथ्वी करनेवाला श्रावक बारहवें देवलोक जा सकता है। इस का नाम जिनपूजा लिखी जाती हो तो कोई हरकत नहीं हम मानते है यह मध्यम फल है उत्कृष्टफल में तो नागकेतु जिनेश्वर भगवान की पूजा करता हुआ केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष भी गये हैं कौनसा पदार्थ है कि जिसको भगवान की सेवा न दे सके। अब यह प्रश्न रहा कि स्वर्णजवों से पूजा करनेवाला श्रेणिक नरक में क्यों गये? रतनलालजी को थोडीसी भी जैनसिद्धान्त की खबर रहती तो ऐसा निर्माल्य कथन नहीं कर सकते थें क्योंकि श्रेणिकने जैनधर्म की प्राप्ति से पूर्व ही नरक का आयुष्य बांध लिया था जैन का कर्मसिद्धान्त, इस बातको कबूल करता है कि किसी भी गति का आयुष्य बांध लिया जाय पीछे से चाहे जैसी धर्मकरणी करे उसके आयुष्य का पलटा नहीं हो सकता है, इस बात को स्थानकवासी भी मानते हैं, तब यह सवाल ही नहीं हो सकता कि वह स्वर्ग में क्यों नहीं गये। डोसीजी की यह बात उनमें बडी मूर्खता साबित करती है। श्रेणिक महाराज की अनुपम प्रभुपूजाने तो यह अपूर्व फल भविष्यके लिये निर्मित कर दिया है कि नरक से निकल कर वह प्रथम तीर्थंकर होंगे अगर आयुष्य बन्ध न हुआ होता तो क्षायिक समकित के कारण उसी जन्म में मुक्ति पाते। हा! पक्षपात, तूं बडी बुरी बला है कि हर किसी का गला पकडती है। रतनलालजी से हम पूछते हैं कि श्रेणिकने भगवान महावीर प्रभु की पुरी भक्ति की है ऐसा तो तुम्हारे अनुयायी भी मानते हैं और नरक में जाना भी मानते हैं तो क्या इससे साक्षात् भगवान की भक्ति भी बुरी हुई कि इससे इसकी नरकगति हुई। लिखते वख्त जरा तो सोच

करना था कि मैं क्या लिख रहा हूं, इससे तो उल्टा जोतर हमारे गले में ही पडता है बस बस तुम्हारा दोष नहीं, मिथ्यात्व का यही काम है कि वह उल्टी समझ दे देना।

पृष्ठ ५८ से ६५ तक में महाकल्प के प्रायश्चित्त विधान पर चर्चा छेड दी है, इसमें भी हमारे पाठकों को ठिकाने २ पर उनका पक्ष-पात हमारे निम्नलिखित इस प्रकरण के उत्तर से जाहिर हो सकता है।

महाकल्प का प्रायश्चित्त प्रभु दर्शन की पूर्ण सिद्धि कर रहा है क्योंकि साधु होकर जिनमंदिर दर्शन के लिये न जावे उसको भी छट्ठ दुवालस का प्रायश्चित्त आवे तो फिर गृहस्थ की तो बात ही क्या करनी? गृहस्थ का अधिकार द्रव्य और भाव से,और मुनि का अधिकार भावपूजा से है। इस विषय में विधान ही नहीं तो प्रायश्चित्त कैसा? ऐसी शंका करनेवाले पक्षपात के अन्ध चश्में पहिने हुए हैं। मूर्त्तिपूजा के विधान का वर्णन हम पीछे लिख आए है अतः यहां ज्यादा लिखने की जरूरत नहीं, भावस्तव नाम चारित्र का है, इसके आगे द्रव्यपूजा अनन्तवां भाग है तो उस में आश्चर्य ही क्या? सारे ही बारहव्रत इसके अनन्तवां भाग में हैं बाकी तुम द्रव्य जिनपूजा आरंभिक इत्यादि जो लिखते हो सो झूठ है ऐसा पाठ है ही नहीं साधु पदसे भ्रष्ट हुए का दृष्टान्त इस चर्चा में अयोग्य है। साधु साधु के लायक भावपूजा को छोड कर द्रव्यपूजा कर लेवे तो नुकसान जाहिर ही है, मगर गृहस्थ होकर द्रव्यपूजा को न माने वह तो जरूर ही दुर्लभबोधि होता है। जैनसूत्र का किसी प्रकार से परिवर्तन मानना यह मूर्त्तिपूजा के सिद्धान्त को उडाने के लिये है। भवभिरु चैत्यवासीयों ने मूलसूत्र और टीकाएं

नहीं बिगाडी श्रीविजयानंदसूरीश्वरजी महाराज का यह लेख है कि श्री-विजयदानसूरि महाराज ने अनेकवार जैनसूत्रों की प्रतें शुद्ध की इसका अर्थ परिवर्तन नहीं है परंतु भंडारों में रही हुइ अशुद्ध लिखित सूत्र प्रतियों का सुधारना है किसी बातका जब हठवाद हो जाता है तब अपना ही उल्लु सीधा करना चाहता है मगर आगे पीछे के संबन्ध को नहीं देखता है रतनलालजी ने इस प्रकरण में सर्वत्र ऐसे ही लिखमारा है सज्जनों को चाहिए कि इनके इस विषय के अप्रमाणिक लेख पर विश्वास न करें ।

पृष्ट ६६ से ६८ में शास्त्र का उपयोग मूर्तिपूजा नहीं इस विषय पर चर्चा चलाई है । हम को इस बात का बडा अफसोस है कि हम शास्त्र के उपयोग को मूर्तिपूजा मानते ही कब है ? और जो ऐसे ही मानते तब तो हमको मंदिर में जाने की जरूरत ही क्या रही ? शास्त्र तो हरदम हमारे पासही रहते है देखिये रतनलालजी की चालाकी, सारी ही किताब चालाकी से भरी पडी है भोले मृगले इन की जाल में जरूर फंस जाय, क्यों कि—पूर्व पक्ष ऐसे उंधे किये हैं कि मूर्तिपूजक समाज की मान्यताही न हों । हम तो यह कहते हैं कि—तुम जड जैसे बनकर जड कहकर मूर्तिपूजा से हटते हो तो शास्त्र भी जड है उससे ज्ञान कैसे मानते हों और जब जड शास्त्र से ज्ञान होता है तो मूर्ति भी ज्ञान का कारण क्यों नहीं ? मूर्ति को कम नसीब वाले नहीं मानें और साहित्य को ज्यादा मानें तो इस से सिद्ध क्या हुआ ? दुनिया में हीरे कम हैं और पत्थर से दुनिया भरी पडी है इस से क्या

हुआ मूर्त्ति को नहीं माननेवालों का साहित्य, श्रद्धा को नष्ट करनेवाला होने से मिथ्यात्वप्रचार चाहे जितना करें तो इस से क्या फायदा? एक ही भक्त भगवान की पूजा करके श्रद्धा द्वारा नागकेतु की तरह केवल-ज्ञान प्राप्त करेगा तो लाखों क्रोडों मनुष्यों का उद्धार कर सकता है। देखिये! मूर्त्तिपूजा से कितना फायदा होता है। आगम की मान्यता, प्रभुआज्ञा का आराधकपना, मार्गपर कायम रहना, प्रभुद्रोही न बनकर उसका प्रपूजक बनना यह कम लाभ नहीं है। हां! इस विषय की पुष्टि करनेवाले साहित्य से कम लाभ होता है ऐसा किसने कहा कि नाहक में कागज काले किये गये, प्रभुमूर्त्ति के ध्यान पूजन और गुण मनन से केवलज्ञान तक पा सकता है और इस से बर खिलाफ होकर ध्यान करनेवालों का ध्यान बुगला ध्यान होने से सर्वथा अनिष्ठ और दुर्गति को देनेवाला ध्यान है। जो शास्त्र का सत्कार सन्मान नहीं करता और उस को पांव लगाता है--ठुकराता है उस से बढ-कर नादान ही कौन हो सकता है अगर कहों कि हम ऐसा नहीं करते हैं और पुस्तक की आशातना से डरकर उसका सत्कार करते हैं तो बस इसका नाम ही तो पूजा है फिर उल्टे क्यों चलते हो?

दृष्ट ६९ से ७३ तक में अवलंबन का विषय लेकर मूर्ति की अनावश्यकता बताते हुए अनेक अनाप शनाप बाते लिखमारी हैं जिन बातों को हम भी कबूल करते हैं। ऐसी बाते अवलंबन में लिखकर लेख का कलेवर बढाया है। हमारा मूर्त्ति में मूर्त्तिमान् का पूजन होने से सारा ही अवलंबन का विषय और मूर्त्तिपूजन भिन्न नहीं सिद्ध होता है। यही इस प्रकरण का जवाब है। भरतेश्वर नमिराज समुद्रपाल

आदि, भगवान की मूर्त्ति के आदर वाले थें उनका ध्यान श्रद्धा सहित उन को पार कर सकता है। मगर पूर्व के लेख में अनेक आगमो से साबित की हुइ प्रभुपूजा को नहीं माननेवाले सिद्धान्त से चाहे जितनी क्रिया, तप, जप, क्रियाकांड, ज्ञान, ध्यान करे तो भी "मूलं विना कुतः शाखा" श्रद्धा वगर के मनुष्य पार नहीं हो सकते हैं अवलंबन का प्रकरण मूर्त्ति को छोडकर जीव वगर के कलेवर जैसा है कलेवर की किम्मत जीव के साथ है ऐसे ही अवलंबन नाम के प्रकरण में वर्णित कार्यो की किम्मत भी प्रभुमूर्त्ति पूजा की श्रद्धारूप जीवन के साथ ही है। हमारी मति, प्रभुमूर्त्ति के दर्शन से मूर्त्तिमान प्रभु में और उसके सकल गुणो में विचर सकती है केवल मूर्त्ति में ही नहीं अटक सकती, इस बात का अनुभवियों को अनुभव हो सकता है अनुभवशून्य रतनलाल इस बातको कैसे समझ सकते हैं।

पृष्ट ७३ से ७६ में नामस्मरण और मूर्त्तिपूजा के विषय में प्रस्ताविक को छोडकर अगडंबगडं उत्पटांग दलीलें दी हैं। स्थानकवासी लोग बहुधा कहा करते हैं कि--पत्थर की गौ दूध नहीं देती तब मूर्त्तिपूजकों की तरफ से तर्क उठा कि जब पत्थर की गाय दूध नहीं देती तो 'गाय दूध दे गाय दूध दे' ऐसे बोलने से भी दूध नहीं मिलता, तो फ्रिर तुम प्रभु का नाम भी क्यों लेते हो? साक्षात् भगवान् तो तुम्हारी आंखों के सामने है ही नहीं और भगवान् २ पुकारते हो इस से गाय के अभाव में गाय २ पुकारने से दूध नहीं मिलता, इसी तरह तुम्हारे को नाम लेने से क्या फायदा? पाठकों को विचारना चाहिये कि यहां पर दोष ढूंढियों का है कि पूजेरों का, है ढूंढियों का और सिरपडते

हैं पूजेरों के, और लिखते हैं कि यह प्रश्नकर्ता की कुतर्क है और ऐसी ही कुतर्क श्रीमान् **लब्धिसूरिजी**ने भी की थी जो कि **जैनसत्य-प्रकाश** में प्रकट हो चुकी है। इन महानुभावों को यह भी मालूम नहीं कि कोइ भी समझदार मनुष्य खाली तोता रटनरूप नामस्मरण को उच्च फलप्रद नहीं मानता, भावयुक्त स्मरण ही उत्तम कोटि का फलदाता है इत्यादि।

पहिलातो यह कुतर्क का प्रश्न है यही लिखना गेर व्याजबी है कारणकि पूजेरों का यह प्रश्न नहीं मगर जवाब है, कुतर्क नहीं बल्के सुतर्क है, पत्थर की गाय का दृष्टान्त देनेवाले ढूंढिये आज तक इस जवाब से चूप हो जाते थें और न्यायप्रिय अब भी चूप हो जाते हैं परन्तु कुमार्गरागरक्त रतनलालजी एकदम मानें ऐसी व्यक्ति नहीं है। इन्होंने तो इसपर कुतर्क लगाना शरु करके दो पृष्ट भरडाले हैं वो कहते है कि खाली तोता रटन नाम स्मरण फलप्रद नहीं किन्तु भावयुक्त वाह? कैसी चालाकी करते हैं! भाई साहब हम भी भाव-हीन अज्ञान पूजा को फलप्रद कभी नहीं मानते भावयुक्त वीतराग के ज्ञानवाले, मूर्त्ति में मूर्त्तिमान की पूजा समझकर, पूजनेवालों की ही पूजा को फलप्रद मानते हैं। नाम और मूर्त्ति दोनो मंजुर होने से हमारा कार्य डबल सिद्ध होगा जिसका नाम पूज्य है उसकी मूर्त्ति भी पूज्य है यह सीधा न्याय है, पूजा में हिंसा का ख्यालकर उसको काय दुष्प्रणिधान सिद्ध करोंगे तो नाम रटन में भी वायुकाय की हिंसा होने से वाक् दुष्प्रणिधान भी सिद्ध होगा। भगवान की आज्ञा में दुष्प्रणिधान है ही नहीं और ऐसे मानोंगे तब तो तुम्हारे साधु विहार भी नहीं कर

सकेंगे नदी भी नहीं उतर सकेंगे, तुम व्याख्यान सुनते हुए उनके रागडे सुनने से कान का और ओरतों का समूह आता जाता दिखलाई देने से नेत्र का विषय पोषण होना, लड्डु बांटे जाते हैं तब जिभ का विषय पोषण, ऐसे अनेकों के संयोग के कारण स्पर्श इन्द्रिय का विषय पोषण बन जाना संभव है। कहो कि—गुरुके वश वचन योग से यह सब बना तब तो वाक्दुष्प्रणिधान मनदुष्प्रणिधान और चलके जाने में कायदुष्प्रणिधान होने से गुरु पास जाओंगे तब घोर पाप बांधोगे क्या? अगर नहीं तो प्रभुमूर्त्ति के शत्रु बनकर वहां क्यों कुतर्क करते हो, याद रखना नाम से मूर्त्ति का ज्यादा गुण है यह हम आगे लिख चुके हैं, और श्री हरिभद्रसूरिजी महाराज के आशय समझने के लिये दूसरी वार दूसरे विद्यालय में दाखिल होना पडेगा कि द्रव्यस्तव क्या और भावस्तव क्या?

पृष्ट ७७ से ७८ में भौगोलिक नकशे का विषय लिया है मगर बराबर अपना मतलब सिद्ध नहीं करस के हैं। विद्वानोंको तुरत मालूम हो जाता है कि इससे तो मूर्त्ति का ही मंडन होता है। इस विषय में तो साक्षात् महावीरका भी ज्ञानप्रदत्व का निषेध पाया जाता है, समझदार को ही लाभ बताया गया है, यह बात हमको भी मान्य ही है हम भी मूर्त्ति द्वारा मूर्त्तिमान की सेवा समझकर उसके गुणों का आदर अनुकरण में साधनमानने से ही मूर्त्तिपूजा सफल है ऐसा मानते हैं कोइ भी समझदार मूर्त्तिपर कूद पडता नहीं है इसलिये यह विषय सारा ही निरर्थक होने से उपेक्षणीय है। इसी तरह स्थापना सत्य को भी उल्टी रीति से ही जाहिर किया है, क्योंकि—स्थापना भावापेक्षया की

गई है उसको भी सत्य मानना जैसे लाठी के घोडे बनाकर खेलते हुए लडकों के आगे, तेरे घोडे को इधर हटा ऐसे बोलना चाहिए नकि तेरी लाठीको हटाले, यहां स्थापना सत्य का बराबर अर्थ निकलता है। इसी तरह से जिस की मूर्त्ति हो उस को मानना अर्थात् महावीर प्रभु की मूर्ति को महावीर समझना इसका नाम स्थापना सत्य है और इस सिद्धान्त को ढूंढक समाजवाले समझेंगें तब पारस्परिक कलह दूर हो जाने से शासन की शोभा बढेगी और हमारा दूना बल होगा और हम तुम एक रस्ते पर आजायेंगे जो सीधा मुक्ति से मिलता है।

पृष्ट ८० से ८१ तक में नाम निक्षेप को अवंदनीय बताते हुए केवल अपनी अज्ञानता साबित की है। भावका स्वरूप द्रव्य नाम और स्थापनामय है पदार्थ से ए भिन्न नहीं इसलिये जो पदार्थ वन्द्य है सो उस से कथञ्चित् भिन्न इसकी पर्याये भी वन्द्य होती है नाम पर्याय महावीर की वंद्य हैं नकि कुम्हार के पुत्रकी क्योंकि जिसका भाव वन्द्य है उसीका नाम वन्द्य है इसलिये इस विषय की कुतर्कें सब-ही निरर्थक है इस विषय का स्फोट विशेषावश्यक से जान लेने जैसा है।

पृष्ट ८२ से ८४ में श्रीमान् रतलालजी शक्कर के खिलौने हम नहीं खाते हैं ऐसा लिखकर कहते हैं कि खिलौने को कोइ खावे या तोडे तो वह स्थापना निक्षेप का भङ्गकर्ता ठहरता है। हम पूछते हैं कि जब वह अचित्त ही है तब लड्डु तोडते हो रोटी तोडते हो ऐसे ही इसको तोडो तो क्या हरकत? कहोगे कि वह स्थापना है इस-लिये नहीं तोड सकते हैं तब तो आपने जिस घोडा गाय भेंस आ-

दिका वह आकार है उसका कुछ न कुछ खिलौने के साथ सबंध माना। खिलौने में जिसकी आकृति है उसका सबंध मानकर उसका भक्षणादि व्यवहार बन्ध रखने से हिंसा से बचते हो और स्थापना सत्य मानकर प्रभु की आज्ञा पालते हो ऐसे ही अगर तुम प्रभु की मूर्त्ति में भी प्रभु का सबंध मानकर उसका भी आदर सत्कार करो तो जिस अंश में विराधक बनते हो उस अंश में भी आराधक बनकर अपना ल्याण कर सकते हो। अब बतलाइये? तीन वर्ष के कल्लु के छोटे भाइ आप बने या हम? मेरी लिखी हुइ खिलौने की दलील आपको आश्चर्यकारी मालूम देती है इसका भी सबब आपकी आंखो पर पक्षपात का चश्मा है। वह उतार दोगे तो आपको हमारी बात यथार्थ मालूम होगी क्योंकि खिलोने में स्थापना सत्य माननेवालों को प्रभु-मूर्त्ति में स्थापना सत्य मानने की जरूरत है। और स्थापन सत्यका अर्थ यही होता है कि जिसकी स्थापना है उसका उसके साथ अमुक सबंध है अन्यथा स्थापना सत्य कह नहीं सकते। स्थापना सत्य मानना और पूज्य की स्थापना का आदर करनेवालों का लडकपन-समझना, यह तुम्हारा ही लडकपन है शासनदेव उसको दूर करके तुमको युवानी में लावे। "जिण पडिमा जिण सारिखी" ऐसा रायपसेणी का आधार लेकर मूर्त्ति का पूजा सत्कार माना जाता है यह आग-मवाद है मिट्टी की रोटी और पत्थर की बदाम खारक आदि खाने का आगमवाद नहीं किन्तु अज्ञानवाद है। इस बात को नहीं समझते हुए नाहक में हठवाद पकडकर क्यों दूर्गति का रास्ता ले रहे हो, अब भी सोचो नहीं तो पीछे से पस्ताना होगा। शासनदेव सद्बुद्धि देवे और तुम्हारा कल्याण करें।

पृष्ठ ८५ से ९३ तक में पति का चित्र व स्त्रीचित्र और साधु, इन दो विषयों पर विवेचन करके भोली जनता को श्रद्धा से भ्रष्ट करने का पूरा प्रयत्न किया है।

श्रीमान् रतनलालजी लिखते है कि—"चित्र से विधवाए सधवापन का अनुभव करती हो तब तो मूर्त्तिपूजा भी माननीय हो सकती है देखिये ! कैसी पक्षपात की बात है ऐसी बातों से भोली जनता श्रद्धा से भ्रष्ट बने इस में जरा भी आश्चर्य नहीं है। हां कोइ बुद्धिशाली मिलता तो तुरत कह देता कि विधवा स्त्री अपने पति का नाम लेवे तो क्या सधवा हो जायगी ? अगर नहीं तो फिर प्रभु का नाम भी क्यों लेते हो ? तुम्हारी दलीलसे तो तुम्हारे को मूर्त्ति छोडते हुए नाम भी छोड देना होगा, क्योंकि नामलेने के साथ भी प्रभु हाजर नहीं होते हैं इससे तो तुम्हारे को गूंगा ही बन बेठना पडेगा, अगर कहोगे कि तुम पूजा करते हो, हम नाम की पूजा तो नहीं करते हैं ? यह कथन भी वृथा है, क्योंकि **महावीराय नमो नमः** इत्यादि नाम के जाप में नमो नमः का योजन भी तो पूजा ही है अगर कहोगे कि केवल नामको ही मानने से हम फायदा नहीं समझते हैं साथ भावको भी लेते हैं तो हम भी मूर्त्ति में भाव के आरोप से ही फल समझते हैं न कि मूर्त्ति से यह बात तो उभयके लिये समान है।

आगे चलकर लिखते हैं कि—स्त्री चित्र से काम जाग्रत हो उसी प्रकार प्रभुमूर्त्ति से वैराग्य प्राप्त करना असंगत है यह कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि प्रभुमूर्त्ति से अनन्त आत्माएं वैराग्य प्राप्त करके मुक्तिपुरी में बिराजमान हो चुकी हैं शय्यंभवसूरि शांतिनाथ भगवान

की मूर्त्ति से विरक्त हुए नागकेतु ने जिनमूर्त्ति की पूजा करते हुए केवलज्ञान प्राप्त किया। लाखों मूर्त्तिपूजकों का और हमारा यह अनुभव प्रमाण है कि—प्रभुमूर्त्ति से हमको जरूर २ भूरि २ वैराग्य की प्राप्ति होती है मात्र तुम्हारा दृष्टिविरोध तुमको इस अनुभव से वंचित रखता है इस में दोष किसका? हां स्त्रीचित्र या साक्षात् स्त्रीनिरीक्षण से जितना काम विकार शीघ्रतया और स्पष्टतया उत्पन्न होता है, उतना स्पष्ट और शीघ्र नहीं होता मगर होता जरूर है और इस भाववालों की संख्या भी कम रहती है कारण कि वैराग्य होना क्षयोपशम की चीज है और कामविकार औदयिक भाव की वस्तु है, इन दोनों की प्राप्ति में समानता हो ही नहीं सकती। ऐसे तो दुनियादारी की बातों का संपर्क जितना विषयभाव में फसाता है उतना मुनियों की देशना से वैराग्य नहीं आता और आवे तो हजारों में किसी २ को ही, तो क्या देशना—श्रवण छोड देना? अगर नहीं तो फिर प्रभुमूर्ति दर्शन के विरोधी क्यों बनते हो? भवभीरु बनो और भवान्तर में क्या हाल होगा इसका भी विचार करो। नाहक में 'मूर्त्ति को तोडते हैं इसलिये वह सब को वैराग्यजनक नहीं' आदि कुतर्क कर अपनी आत्मा को क्यों दुर्गति में गिरा रहे हो? क्या राग उत्पन्न करनेवाली स्त्री की मूर्त्तियों को और स्त्रीयों को तोडनेवाले फोडनेवाले और जान से च्युत करनेवाले नहीं मिलते हैं, अगर मिलते हैं तो फिर उनका राग पैदा करना तो निःसंशय मान लिया गया है उसका बचाव कैसे करोगे? अगर उसका बचाव है तो फिर प्रभुमूर्त्ति के तोडने फोडनेवालों

की आपत्ति का भी बचाव जरूर है, भक्तों को वैराग्य पैदा करती है अभक्तों को रोष; इसमें तुम्हारा ही उदाहरण बस है। कोई भी वस्तु एक ही धर्मवाली नहीं हो सकती है।

पृष्ट ९४ से ९७ में हुंडी और नोट को भावनिक्षेप लिख-कर अपनी बुद्धि की किम्मत कराई है अनुयोगद्वार सूत्र का वेत्ता अक्षर और कागज के संयोग को रूपैये की स्थापना ही मानेगा भाव कभी नहीं कह सकता है, रुपया के हिसाब से वे दोनों स्थापना है और हुंडी और नोट रूप से वे भाव हैं इस भेदको समझे सिवाय किसीका संशय छेद करनेको तैयार हो जाना मूर्खाई है।

पृष्ट ९८ में परोक्षवंदन के प्रकरण में अगडं बगडं उटप-टांग लिख मारा है।

पृष्ट ९९ से १०० तक में स्थापना का खंडन किया है यह भी एक तरह का उन्माद ही है। प्रथम तो स्थापना सत्य का स्वीकार किया है और यहां आकर उलट जाते हैं "गुरु विर-हम्मि गुरु ठवणा" यह पूर्वधरों के वचन का अनादि से आदर चला आता है मात्र मूर्त्ति निंदक लुंपकों ने ही इसका लोप किया है इस विषय में विशेष लिखना पिष्टपेषण है।

पृष्ट १०१ से १०३ तक में द्रव्य निक्षेप को अवंद्य सिद्ध करने के लिये जो दलीले दी हैं सो भी पोच ही है क्योंकि तीर्थंकर भगवान की दाढाएं तक पूजी जाती हैं और जन्मते

हुए तीर्थंकर के द्रव्य निक्षेप ही है मेरु पर्वत पर चौसठ इन्द्र मिलकर असंख्य देवों के साथ पूजा स्तवना और भक्ति-भावना कर के अपना कल्याण करते हैं, भरत महाराजने मरीचि को भविष्य का तीर्थंकर समझ कर वंदन किया है, ऐसी सेंकडों बातें प्रभु के द्रव्य निक्षेप की वन्द्यता बतलाती हैं। तीर्थंकरों के जनक जननी को भी इंद्रादि नमते हैं, इन बातों से साफ २ पता मिलता है कि द्रव्य निक्षेप जरूर वन्द्य हैं। और तीर्थंकर के चारों निक्षेप पूज्य हैं साधु का भाव निक्षेप ही वंद्य है वहां साधु या दूसरे हाली मवाली के दृष्टान्त देना व्यर्थ है। जिताचार शब्द लिखकर अपना पल्ला छोडाना चाहते हो मगर छूट नहीं सकते, जिताचार का अर्थ किसी तरह से विधि से कमजोर नहीं है मगर मजबूत विधि का नाम है इस लिये द्रव्य निक्षेप भी स्थापना निक्षेप की तरह सर्वथा मान्य है।

पृष्ट १०४ से १०६ तक में चतुर्विंशति स्तव और द्रव्य निक्षेप के विषय में लिखते हैं कि—प्रथम जिनेश्वर का शासनाश्रित संघ आज की तरह चतुर्विंशति स्तव कहता था इसमें कोई प्रमाण नहीं, हम पूछते हैं कि नहीं कहता था उसमें क्या प्रमाण है? जब छः आवश्यक में दूसरा आवश्यक चोविसत्थो है तो क्या ऋषभदेव के साधु को एकसत्था, अजितनाथजी के संघ को दो सत्था, संभवनाथजी के संघ को तीन सत्था कैसा गडबडाध्याय हो जायगा? हा! अज्ञानता की भी कुच्छ सीमा है? छः आवश्यक के नाम हर एक तीर्थंकर के शासन

में एक सरखे ही होने चाहिए, इन अज्ञान लीलाधारीओंने तो उसका भी पलटा करना चाहा है। जितने हुए इतने के ही नाम लेने से ऋषभदेवजी के वखत में उसभं और अजितनाथजी के वखत में उसभमजिअं ऐसे लोगस्स का पाठ एक कडी का पीच्छे से दो कडीका पीच्छे से तीन कडीका कैसी पक्षपातता? अपनी बात की सिद्धि के लिये कैसी कैसी खोटी कल्पनाएं खडी करते हैं। इनको पूछनेवाला कोई यह पूछें कि अब तो एक भी भाव तीर्थंकर नहीं है क्योंकि सब सिद्ध हुए हैं फिर तो लोगस्स ही उडा देना चाहिए। भूतकाल में हुए ही नहीं इससे द्रव्य, तो इस काल में हो चुके हैं, इस लिये द्रव्य, समोसरण में बिराजमान हो कर देशना देते हो तब ही भाव कहा जा सकता है, क्योंकि "भावजिणा समवसरणट्ठा" ऐसा ही पाठ है सिद्धिपुरी में कहां समोसरण है? ढूंढीयों की ऐसी कुटेव पड गई है कि जहां उनको हरकत आवे वहां तुरन्त खोटी कल्पनाओं का तुत खडा कर देते हैं जैसे सिद्धों में भी भाव अरिहन्त की खोटी सिद्धि करके अपना उल्लु सीधा किया है। परन्तु शास्त्र सिद्धान्त के वेत्ता उनके साधु भी समझ गये हैं कि रतनलाल ने यह खोटी ही सिद्धि की है।

पृष्ट १०७ से ११० तक में भरतजी ने मरीचि को वंदन किया इस विषय को झूठा सिद्ध करने की कोशिश की है। वो सूर्य पर धूल डालने की कोशिश जैसी कोशिश है, अर्थात् ऐसे उंधे लेख से अपने आत्मा को मलीन किया है। मरीचि

के वंदन का विषय त्रिषष्टि शलाका में ही होता तब तो लेखक की बात ठीक होती परन्तु निर्युक्तिओं में तथा वसुदेवहिंडी जो हेमचंद्राचार्य महाराज से सेंकडों वर्ष पहिले का है उनमें भी यह वर्णन आता है। रतनलाल जी का तो यही सिद्धान्त है कि "मार बुद्धा और कर शुद्धा" तुम्हारे पुराने रिख भी इस भरतजी के वंदन का पूर्व में स्वीकार करते थे मात्र मूर्त्तिपूजकों की तरफ से इस दलील से मूर्त्तिपूजा साबित किये जाने लगी तब से उंधे मार्ग पर चलने लगे हैं भरतजी की भावना, ऋषभदेव भगवान से सुनकर वंदन की हुई इससे नेमिनाथ भगवान से सुनकर अन्य को कृष्णवंदन की क्यों नहीं हुई? यह प्रश्न नहीं हो सकता है। रामचंद्र, भाई का काल्पनिक मरण सुनकर लक्ष्मणजी का मरण हुआ और हजारों अपने भाइयों का सत्य मरण देख कर भी अन्य का मरण क्यों नहीं होता, कहना होगा कि भावों की भिन्नता, तब तो उपर में भी यही समझना चाहिए। द्रव्य और भाव में भेद नहीं माननेवाले कोई उल्लू को कपडा और सूत पाषाण शकल और मूर्त्ति आदि के दृष्टान्त सुना कर भले ही तुम धोखे में डाल सकते हो, मगर उनके भेद को समझनेवाले विद्वानों के आगे ये दृष्टान्त अज्ञानलीला जैसे मालूम देते हैं, सिद्ध हुए तीर्थंकर और द्रव्य निक्षेप का सामान्य उत्तर प्रथम के कथन में आ चुका है, कारण कि सिद्ध भी भाव अरिहन्त हो तब तो दो पद जुदे मानने की ही क्या जरूरत? और कोई सिद्धान्त से

परिचित मनुष्य यह कह ही नहीं सकता कि सिद्ध भाव अरिहन्त है, इससे द्रव्य अरिहन्त कहना होगा। कारण कि तीर्थंकर का भावी पर्याय सिद्धावस्था और सिद्ध भगवान का भूत पर्याय तीर्थंकर इस तरह के स्वरूप में भेद के ग्रहण करनेवाले सिद्धान्तवादी सिध्धावस्था होने में तीर्थंकर का द्रव्य निक्षेप निःसंदेह स्वीकार सकते हैं मात्र अज्ञानी ही उल्ट सुल्ट बाते बनाकर निक्षेप स्वरूप को विपरीत वर्णन से स्वीकारेंगे, दृष्टान्त भी युवराज राजा यति गृहस्थी आदि के विपरीत ही स्वरूप से उल्लिखित किये हैं जो सर्वथा उपेक्षणीय हैं।

पृष्ट १११ से ११४ तक साधु के शव का बहुमान नाम के प्रकरण में भी प्रथम यद्वा तद्वा लिखकर पीछेसे लिखते हैं कि:—उस शव का कुछ समय पूर्व जो एक उच्च आत्मा से संबंध रहा था उस आत्मा के ही बहुमान के कारण शरीर से उसके निकल जाने पर भी शव का मान होता है यहां पर पाठक जनों को सोचना चाहिए कि कैसी चालाकी से बचाव करते हैं, जीव के चले जाने बाद मुरदा का मान कहा जाता है उसमें चेतन था, तब था अब क्या? एक झूठा बचाव और चालाकी ही है कि—अन्य कुछ। खाते हैं जड, पीते हैं जड, सोते हैं जड में, रोते हैं जड के पीछे, और कहते है कि हम जड को नहीं मानते, मात्र मूर्खता है या और कुछ? याद रखना, भाव निक्षेप द्रव्यादि से विहीन बन ही नहीं सकता। क्या वस्तु अपने स्वरूप के सिवाय रह सकती है?

भाव के वन्दन समय भी नाम द्रव्य स्थापना वन्द्य हो जाते हैं इस लिये तीर्थपति का द्रव्य निक्षेप सदैव वन्द्य है केवल अज्ञानी लोगों का ही यह कथन है कि—तीर्थंकरों का भी सिर्फ भाव ही वन्द्य हैं किन्तु यह सरासर झूठ है। प्रभु के चारों निक्षेप वन्द्य होना ही शास्त्रसिद्ध है।

पृष्ट ११५ से १२० तक में क्या जिनमूर्त्ति जिन समान है? इस विषय की चर्चा में भी पूर्ण अज्ञानता प्रदर्शित की है। कहां श्री विजयानंदसूरीश्वरजी महाराज और कहां रतनलाल, इस बात का पता तो उसको लग सकता है कि जो दोनों को जानता हो एक तरफ़ हाथी और दूसरी तरफ खरगोश जितना अंतर है। श्रीमद्विजयानंदसूरीश्वरजी महाराजने "कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं" का जो अर्थ लिखा है उस अर्थ में श्री अभयदेवसूरीश्वरजी महाराज जैसे प्रखर विद्वान् निष्पक्ष टीकाकारों की सहमति है और अब भी किसी निष्पक्ष विद्वान् की राय ली जावे तो वही अर्थ सच्चा साबित होगा, रतनलालजी का लिखा हुआ अर्थ तो बिलकूल झूठा है। आगे चल कर "चैत्यं सुप्रसन्नमनो हेतुत्वात्" इस पंक्ति से अर्थ बदलना चाहते हैं मगर बदल नहीं सकता, इससे तुम्हारा ज्ञानवंत अर्थ सिद्ध करनेका झूठा मनोरथ सफल हो सके ऐसा नहीं है। यहां तो यह अर्थ निकलता है कि प्रभुमूर्त्ति को चैत्य क्यों कहा जावे? उसमें प्रसन्न मन का हेतु दिखलाया गया है इस बात को रतनलाल जी समझे नहीं, या तो इरादा पूर्वक उल्टा मार्ग पकडा है।

रतनलालजी ने इस प्रकरण में जो दृष्टान्त दे कर लेख का कलेवर बढाया है उनका सन्निपात से बकते हुए मनुष्य के बकवाद जैसा बकवाद ही हम को मालूम पडता है। वहां हम ज्यादा क्या लिख सके रुबरु में मिले तो जरूर उन की मूर्खता उनके गले उतारने का प्रयत्न किया जाय, इनकी तरह हम बेहूदा लेख बढा कर कागज काला करना नहीं चाहते हैं।

पृ० १२१ से १२२ में समवसरण और मूर्त्ति के विषय में केवल नास्तिकता ही बतलाई है। हमने आज तक ऐसा नहीं सुना कि ढूंढीये लोग समोवसरण में भगवान के चार रूप भी नहीं मानते, हमने रतनलालजी की इस पुस्तक में यह बात देखी इसलिये हम को नास्तिक शब्द का प्रयोग करना पडा है। हारिभद्रीय आवश्यक सूत्र में खास देवता तीनरूप बनाते हैं इस बात का स्पष्ट उल्लेख है, प्रभु के सूत्रसिद्ध अतिशय उड जाय, भगवान का महिमा जाय, अनादि की रीति—नीति नष्ट हो, इतिहास से जैनों की प्राचीनता नष्ट होती हो तो भले हो, मगर मूर्त्ति नहीं मानने का गद्धा पूंछ पकडा है, यह इनकी पकड न जाय, बस यही एक सिद्धान्त रतनलालजी ने पकडा है। जहां मूर्त्ति सिद्धि का प्रसंग आया वहां तुरन्त कह देते हैं कि यह बात आगम में नहीं है इसमें कोई प्रमाण नहीं है जैसे आइने में मुख दिखलाई देते हैं ऐसे ही समवसरण में कोई चीज होगी जिससे चार मुख होंगे, चार रूप नहीं, चार रूप माने तो मूर्त्तिपूजा का बखेडा गले पड जाता है इस-लिये रूप नहीं मगर मुख थे ऐसा बोलनेवालों को यह भी मान

नहीं है कि धड सिवाय मुख कैसे, रावण की बात यहां लागु नहीं हो सकती है वह एक लाइन की बात है यहां चारों दिशा में दिखाई देने की बात है, इसमें कांचकुच की कोई बात लागु नहीं हो सकती है, क्यों कि चारों दिशा में एक तरहका मुख दूसरे आदमीयों को दिखलाई देना यह चार रूप सिवाय हो नहीं सकता भामण्डल से भी नहीं मालूम हो सकते हैं, भामंडल से एक मुख दिखने में भी पीछे बेठनेवालों को आवरण होता है और तीर्थंकर के समोसरण में चारो तरफ सभा बेठती है जिसमें विदिशा भी खाली नहीं, अब चार मुख सिवाय सुननेवालों को कैसे आनंद आ सकता है इन सब बातों का विचार किये सिवाय ही रतनलालजीने गप्प लगा दी है जो सर्वथा विधि के प्रतिकूल है।

पृष्ट १२३ से १२७ में क्या पुष्पों से पूजा पुष्पों की दया है? इस विषय में रतनलालजी लिखते हैं कि:—जो लोग हिंसा कर के उस में धर्म मानते हैं उन्हें यज्ञ में होती हुई हिंसा को हेय कहने का क्या अधिकार है? यहां पर रतनलालजी का पक्षपात का पारा १०८ डीग्री चढ गया है ऐसा मालूम देता है। कहां तो पुष्प और कहां अग्नि में डाले जाते हुए तडपते हुए पञ्चेन्द्रिय जीव, भगवान पर जो पुष्प चढाये जाते हैं उनकी दया का ख्याल तो तब आवे कि जब पक्षपात का उछलता हुआ पारा नीचे उतरे। हमारे पाठकों को विदित रहे कि हमारे यहां अखंड पुष्प चढाने की विधि है उसकी माला भी विवेक से दोरे की गांठ दे कर बनाना चाहिए, मगर सुई से छेदकर

नहीं। देखिये—वे फूल किसी भोगी के पास चले जाते तब आग में डाल कर उसका अत्तर निकालता। भगवान की भक्ति में मंदिर की शीतल छाया में अखंडपणे प्रभु के कंठ में पाषाण की शीतल मूर्त्ति पर आरूढ हो गये, कहां आग में जलना? और कहां भगवान के कंठ पर या मुगट पर अव्याबाध रहना? बेवकुफ से बेवकुफ भी समझ सकता है कि पुष्पों की प्रभुपूजा द्वारा पूरी दया हुई है अगर अत्तर न भी निकाला जाय फिर भी भोगी उस को सूंघेगा, मसलेगा, माला बनाकर गले में डाले बाद निंद में उसको दबा कर पीडित करेगा। इन सब दुःखों से बचे हुए फूल की दया न मानना और यज्ञ में होमे जाते जानवरों की बलि की उपमा लगानी पूरे पूरे नालायकों का काम है। हा! मिथ्यात्व, तुं प्राणीओं की दृष्टि को कैसी बदल देता है, जिनको घोडे भी गद्धे दिखते हैं। यज्ञ के बहार हिंसा के त्यागी हो वो भी जीवों को यज्ञ में होमने के सिद्धान्तवाले हैं, उनका त्यागी संन्यासी भी यज्ञ में तैयार किया हुआ मांस न खावे तो कई जन्मों तक उसको जानवर का अवतार लेना पडता है और मूर्त्तिपूजन करनेवालों की यह मान्यता नहीं साधु हुए बाद उस पूजा का सर्वथा निषेध है। श्रावक की आखिर की प्रतिमा वहन करनेवाला, साधु की तरह भगवान की मूर्त्ति के दर्शन, वंदन—नमन से प्रसन्न रहता है, द्रव्य पूजा नहीं करता। यहां पर विचारना चाहिए कि वैदिक हिंसा और पूजा की हिंसा में गगन पातालका फर्क है, यह बात रतनलालजी को मिथ्यात्व पडल नहीं

दिखने देते, इसमें किसका दोष ? उनके कर्म का कि और किसीका ? कहना ही होगा कि उनके कर्म का दोष हैं जो जिनेन्द्र पूजा की स्वरूप हिंसा को अनुबन्ध हिंसा के साथ जोडते है, कहां रासभ और कहां ऐरावत जहां बुद्धि पर पक्ष का पडदा पड जाता है वहां यह भान नहीं रहता है कि मेरे लेख से पूर्ण असत्य का पोषण हो रहा है, और में ऐसी झूठी बातों से रसातल में चला जाता हूं। क्या तुम्हारे गुरु विहार नहीं करते ? क्या उसमें वायु जल आदि की हिंसा होंती है कि नहीं, अगर कहो कि वहां तो आज्ञा है इसलिये पाप नहीं तो समझना चाहिए कि पूजा के लिये भी बृहत्भाष्य, महानिशीथ आदि अनेक सूत्रों की श्रावक के लिये द्रव्य भाव और साधु के लिये भाव पूजा की आज्ञा है। "आणाए धम्मो" वाक्य समझनेवाले को प्रथम आज्ञा का परिस्फोट करना चाहिए। तुम्हारे गुरु तो वायु और जल आदि के असंख्य जीव के मारनेवाले हैं और पुष्प में तो 'एग शरीर एगो जीवो' के हिसाब से पचास, सौ, दोसो आदि पर्याप्तों की गीनती होगी और तुम्हारे गुरुओं ने की हुई हिंसा असीमित है, वायु जलादि के असंख्यात पर्याप्तों का विनाश हैं, अगर वहां धर्म तो यहां क्यों नहीं ? और यहां नहीं तो वहां कैसे ? और यज्ञ का दृष्टान्त वहां क्यों नहीं ?

पृष्ट १२८ से १३२ तक में कित्तिय वंदिय महिया का विषय लेकर मनःकल्पित अर्थ किया है महिया का अर्थ मन द्वारा पूजा करना लिखा है पुष्प से पूजा का अर्थ करने में शास्त्र

का सहारा था वो भी गुमा दिया और मिथ्यात्व की पुष्टि की है। महिया का अर्थ मूर्त्ति के नजदीक नहीं जाना ऐसा किया होता तो भी उनको कौन रोकनेवाला था वीतराग की पुष्पादि से पूजा क्यों? वो तो वीतराग है फिर तो उनको मंदिर में भी क्यों रखना? उन्होने तों घर भी छोड दिया था। जंगल में रहते थे और उनकी देवता समवसरण से भक्ति क्यों करते थें उनको रत्न, कनक और चांदी के गढ क्यों? भामण्डल क्यों? इन सब में वीतरागता में हरकत नहीं आती तब पुष्प पूजा से कैसे आवेगी, और एक योजन भूमि के मेदान के झाडझूड को काट-कर साफ बनाने में अनुबन्ध हिंसा नहीं होती है क्योंकि होती तो खूद वीतराग पापकारी समवसरण को मंजूर ही न करते परंतु मंजूर किया है और इस भक्ति को मुक्ति देनेवाली कही है इसलिये समवसरण की रचना शुभकारिणी है, तब पूजा के शत्रु धर्म के नाशक मूर्त्ति उत्थापकों को पूजा में क्यों हरकत मालूम पडती है? कि पृष्ट के पृष्ट काले कर डाले हैं। श्री विजयानंद-सूरीश्वर धन्यनाम के वचन में जरा भी विरोध नहीं। जीव अदत्त संसार के—कार्य में लगता है न कि प्रभुपूजा रूप प्रभु की आज्ञा पालन में और जो इस तरह से हिंसा और जीव अदत्त लगता हो तब तो तुम्हारे गुरुओं को भी विहार करने से वायु जलादि के असंख्य व अनंत जीवों की हिंसा और उन उन जीवों का अदत्त देह के नाश से अदत्त लगेगा अगर वहां नहीं तो यहां भी नहीं, महिया शब्द का अर्थ पुष्प से पूजित हो तो भी साधु को द्रव्य

पूजा की अनुमोदना की हरकत नहीं, क्योंकि काउसग्ग में पूअ-णवत्तिआए पाठ बोल कर काउसग्ग करते हैं वहां भी पूजा का अनुमोदन ही अर्थ है करना नहीं कराना नहीं और अनुमोदना नहीं यहां भी दुनियां के समस्त पापों के लिये यह नियम है। समकित की करणी रूप प्रभुपूजा की अनुमोदना की आज्ञा है। श्रावक को करना, कराना और अनुमोदना की आज्ञा है। साधु को वहां त्रिकरण से नहीं, अनुमोदना खुल्ली है जो वो भी बन्ध होवे तब तो समकित को भी गुमा देवे तब फिर "मूलं विना कुतः शाखा" के निय्रम से चारित्र से भी भ्रष्ट हो जाते हैं, श्रद्धाहीन को चारित्र हो ही नही सकता फ़िर तो सब लाभ नष्ट होते हैं इस लिये कित्तिय वंदिय महिया के अर्थ में भी धोखाबाजी है और लाख्खो जीवों को श्रद्धा से भ्रष्ट करनेवाला यह प्रकरण भी झूठी बातों से भरा पडा है श्रद्धालु सज्जनों के लिये सर्वथा अमान्य है।

पृष्ट १३३ से १३५ तक में जिनक्रियाओं को आवश्यक बताई हैं ऐसे ही प्रभुपूजा आवश्यक है श्रावक को दोनों प्रकार की और साधु को भावपूजा अवश्य कर्तव्य है। जिसमें प्रथम हिंसा मालूम होती है मगर अनन्त जीवों की उसमें सदा के लिये दया होती है, क्योंकि समकित दाता यह पूजन स्वल्प काल में मुक्तिप्रद हो जाता है और मोक्ष में षड् जीवनिकाय का सर्वथा आरंभ समारंभ और संकल्प हट जाने से अनन्त लाभ हो जाता है।

पृष्ठ १३६ से १३७ में लिखी हुई बात एक तरफी है

और उसका जवाब प्रथम आ गया है। पिष्ट पेषण नहीं करते हुए इतना लिखना बस है कि सांसारिक कार्य का मोहजनक आरंभ है और प्रभुपूजा में धर्मजनक है किसी भी व्यापारी को व्यापार में प्रथम रकम रोकनी ही पडती है परंतु लाभ कई गुण अधिक होने से रकम रोकना सफल कहलाता है, ऐसे ही पूजा में अनर्गल लाभ के कारण थोडा आरंभ करना पडता है और उस को छोड देने से श्रद्धाभ्रष्ट बन कर अपनी कल्पना से पाली हुई दया संसार गर्ता में धकेलती है। गृहस्थ सबन्धी हिंसा पूर्ण टोटा का स्थान है और धर्म मार्ग में की हुई क्रिया मुक्ति तक पहुंचानेवाली है सूक्ष्म विचार से मालूम होता है कि अपने भोग के कारण अनन्त जीवों का नाश करनेवाले, भगवान की पुष्पादि अष्ट द्रव्य से पूजा करने से भडकते हैं वे पूरे अज्ञानी हैं और अनादि से चले आते हुए जिनेश्वर भगवान के सच्चे मार्ग के लोपक हैं और अपनी आत्माका अधःपतन करनेवाले हैं, उनको ढूंढीया धर्म छोडकर तेरापंथी बनने में क्या हरकत आती है वो लोग तो तुम्हारे से भी ज्यादा दया २ पूकारते हैं अगर कहो कि उन्होंने दया का स्वरूप नहीं समझा है तो तुमने भी कहां समझा है उन्होंने दया के नाम से दया दान छोडा और तुम ने प्रभु पूजा छोडी हमको तो "रबने मिलाइ जोडी एक अंधा एक कोडी" जैसा ही मामला मालूम पडता है।

डाक्टर या खुनी न्यायाधीश या अन्याय प्रवर्तक नाम के दो

विषयोंको लिख कर मात्र सन्निपात में मनुष्य बकवाद करे ऐसा ही बकवाद किया है दोनों ही प्रकरण अनभिज्ञता को साबित करते हैं क्यों कि सन्निपात में भान विना सान खो कर बोलने चालने की बात में संबन्ध का ठिकाना नहीं, ज्यों आवे त्यों यद्वा तद्वा बकता है। रतनलालजी ने दोनों प्रकरण में ऐसे ही किया है हमको इस अनभिज्ञता पर बडा खेद हुआ। कोई शास्त्रज्ञ मूर्त्तिपूजक डाक्टर और न्यायाधीश का दृष्टान्त दे ही नहीं सकता, तो फिर ऐसे कल्पित प्रश्न खडे कर जवाब देने लग जाना और ऐसी बनावटी बातें बनाकर अपना मिथ्यात्वोदय रूप सन्निपात जाहिर करने से क्या फायदा? हां मूर्त्तिपूजक के मन्तव्य अनुसार प्रश्न लिखे होते तो उनका जवाब पीछेके प्रकरणों की तरह जरूर दिया जाता, मगर इन दोनों प्रकरणों मे तो कल्पना के कागजी घोडे दौडाए हैं। इसलिये 'बाशद ख़ामोशी ज़ाहिले जवाब' इसी कहावत के अनुसार उन प्रकरणों को उपेक्षणीय समझते हैं।

पृष्ट १४६ से १७९ तक में क्या ३२ मूल सूत्र के बहार का साहित्य मान्य है? इस विषय में अपना यही आशय जाहिर किया है कि—हमारी श्रद्धानुसार एकादशांग और अन्य २१ सूत्र ऐसे ३२ सूत्र ही पूर्ण रूप से वीतराग वचनों से अबाधित हैं। यहां पर सज्जनों को हम विदित कराना चाहते हैं कि—यह भी इनका कथन व्यर्थ है बत्तीस में भी जहां २ मूर्त्ति की सिद्धि है वहां २ अगडं बगडं उत्पटांग ही अर्थ करते हैं और अपनी अभिनिवेशिकता जाहिर करते हैं बत्तीस को

मानते हैं कहना और बत्तीस के अंदर नंदीसूत्र में लिखे हुए नामवाले सूत्र मौजुद होने पर भी न मानना, यहां साफ २ चोरी पकडी जाती है कि नया कुपंथ चलाना था इस लिये अन्यान्य सूत्र को छोड कर बत्तीस मानने का हठ पकडना और उनकी टीका निर्युक्तिएं मूर्त्तिपूजा को पुष्ट करनेवाली जो इनके जन्म से कई सदीयों पहिले की बनी हुइ हैं उनको अप्रामाणिक कहना यही इस जैन मत में कुलिंगधारी ढूंढीयों की नालायकता है। श्रीविजयानंदसूरीश्वरजी महाराज टीकाओं का विच्छेद, श्रीदेवर्द्धिगणि महाराज की समय सत्ता में टीकाएं थीं उस अपेक्षा से कहते हैं परन्तु तुम्हारे सम्मूर्छिम मतसे तो कई सदीयों पहिले की ये सब टीकाएं हैं उनको क्यों छोडा, कहना ही होगा कि तुम्हारे कुमत की जड उखेडने-वाली ये टीकाएं थीं इस लिये तुम अप्रामाणिक कहो तुम्हारी इस बात को तुम्हारे अनुयायी सिवाय कौन मान सकता है। श्रीमद्विजयानंदसूरीश्वरजी महाराज ने संघ का इन्तेजाम कैसा होना चाहिए इस विषय में जो कुच्छ सामग्री बतलाई है वह पूर्व शास्त्रानुसार है उसमें तुमने इन्द्रिय पोषण माना यह तुम्हारी दुर्बुद्धि है, साधर्मिक बन्धुओं की भक्ति करने से इन्द्रिय पुष्टि मालूम पडी और पैसे का दुर्व्यय बतलाया यह पक्षपात नहीं तो और क्या है ? तुम्हारी दया पालनेवालों को माल मसाला खिलाते हो वहां पांच इन्द्रिय का पोषण और दुर्व्यय नहीं और मूर्त्तिपूजक संघ वगैरह निकाले वहां दुर्व्यय, धिक्कार

हो ऐसी अज्ञानता को, कोई विवेकी श्रावक गुरुभक्ति करना चाहे उनकी वैयावच्च करे तो उस में श्रावक का कल्याण है उस में तुम्हारा पेट क्यों दुःखता है कोई वायड गच्छ के जिनदत्त-सूरि जैसे चाहे कुछ लिखे इस में श्वेताम्बर मूर्त्तिपूजक सारे संघकी जिम्मेदारी नहीं वह व्यक्तिगत विषय है, तुम्हारे कोई रिख सभा में रागडा खिंचकर शृंगार रस पोषण कर धर्म विरुद्ध कामादि की पुष्टि करता हुआ ओरतों का गुरु बनकर मन चाहा वर्तन चलावे तो तुम्हारा समाज पतित कहा जायगा क्या? परम पूज्य पूर्ण त्यागी स्वनामधन्य कुमारपाल भूपाल प्रति-बोधक शासनशिरताज श्रीमद हेमचन्द्राचार्य महाराजजी के लिये भी तुम्हारी पापिनी जिह्वा बुरा भला कहने से नहीं रुकती, तब तो बडा भारी खेद होता है और कहना पडता है कि मिथ्यात्व ग्रस्त हुई तुम्हारी आत्माएं नग्न तांडव कर रही है और जबतक मिथ्यात्व से मर रही है, तब तक तुमको हमारे सच्चे चरित्र, रासा, कल्पसूत्र की पवित्र और सच्ची वाणी कुमारपाल का पूजा फल आदि जीवनौषधि कैसे बचा सकती है। वज्रस्वामी महाराज के पुष्पानयन से कितना बडा भारी लाभ हुआ है एक बुद्ध धर्मानुयायी नृपति विशाल प्रजा के साथ जैनधर्मी बन जाते हैं ऐसा लाभ मिलनेवाला हो और उनके जैसी शक्ति हो तो हम भी पुष्पानयन के लिये तैयार हैं; अगर तैयार न रहे तो तुम्हारे जैसे धर्म भ्रष्ट हम भी कहलावें। हां पूजा नहीं कर सकते है जैसे कि तुम बतला रहे हो, क्यों

कि श्री वज्रस्वामी महाराज ने पूजा नहीं की है। इन अज्ञानी यों को फूल का नाम आता है और शूल हो उठ जाता है। इन्द्रशर्मा ब्राह्मण ने भगवान की सचित्त फूल से पूजा की ऐसा हेमचन्द्राचार्य महाराज ने महावीरचरित्र में लिखा है यह देख कर रतनलाल पेट कुटते हैं परन्तु उनको खबर कहां है कि समवसरण में गोडे २ तक उंचे फूल देवता जमाते थे और तुम लोग उनको अचित्त कहते हो यह भी तुम्हारा कथन सूत्र विरुद्ध है क्यों कि सूत्र में 'जल से पैदा हुए स्थल से पेदा हुए' ऐसा लिखा है वैक्रिय के नहीं लिखे है तुम और तुम्हारे गुरु 'जल से और स्थल से पैदा हुए जैसे फूल' ऐसा खोटा अर्थ कर के सूत्रार्थ के चोर बनते हो क्यों कि—"इव" शब्द तो जलज स्थलज में पडा ही नहीं है फिर 'जैसा' शब्द कहां से घुसेडते हो, बस २ ऐसे उत्सूत्र प्ररूपणा के पाप कर्म से तुम्हारी बुद्धि नष्ट भ्रष्ट हो गई है इस लिये अष्टापद, गिरनार, शत्रुंजय सब तीर्थ के शत्रु बनो तो आश्चर्य ही क्या है? ऐसे पापियों के लिये पवित्र तीर्थ की भावना कहां से हो सकती है। तुम्हारे गप्पोडी गुरु के काना फुंसी से तुम को सब ही गपोडे मालूम होते हैं केवलियों को स्नान कराने के लिये शत्रुंजी नदी इन्द्र लाया है यह हमारी मान्यता नहीं है तो फिर लम्बी चोडी मश्करी से कागज काले करने निरर्थक ही है केवली स्नान कर ही नहीं सकते और केवली का सिद्ध अर्थ करके तुमने अपनी पूरी अज्ञानता साबित की है। श्रीमद्विजयानंद सूरीश्वरजी महाराज ने श्री विजयदान सूरीश्वरजी महाराज के लिये लिखा है कि—"जि-

न्होंने एकादशांग अनेकवार शुद्ध करे" बेचारा रतनलाल इस महाराज की हिन्दी पंक्ति का अर्थ भी न समझ सका और घसीट मारा की विजयदान सूरिजी ने इच्छित परिवर्तन किया, कितना जुलम ? विजयदानसूरीश्वरजी महाराज जैसे परम त्यागी भवभीरु एक अक्षर का भी फेरफार करने को तैयार हो सकते हैं क्या ? कदापि नहीं, हां ढूंढीयोंने मूर्त्ति उत्थापन करने के लिये कई पाठ उलटाये हैं कई ठिकाने हडताल लगाकर पाठ बिगाडे हैं "यादृशी दृष्टिस्तादृशी सृष्टिः" के नियमानुसार रतनलालजी ने बिन समझकर महापुरुष श्री विजयदानसूरीश्वरजी महाराज के लिये ऊँधी कलम चलाई है। श्री विजयानंद सूरीश्वरजी महाराज के लिखने का मतलब यह है कि अनेकवार लिखारीयों की लिखी हुई प्रते भंडार से निकालकर दृष्टिगोचर की और उस में अनुस्वार मात्रा आदि रह गये हों या कोई अक्षर रह गया हो उसको दूसरी शुद्ध प्रतिओं के अनुसार सुधारा, मतलब उनका जीवन, शास्त्र के अध्ययन-संशोधन में ही जाता था अनेकवार ग्यारह अंग का संशोधन करने का कितना उंधा अर्थ लगाया है इसी से भव्यों को विचारना चाहिए कि रतनलालजी ने इस किताब में कैसी उल्टी गंगा बहा दी है। इसी प्रकार के श्री विजयानंद सूरीश्वरजी महाराज पर विद्वान मुनि श्री दर्शनविजयजी पर तथा मुनि श्री न्यायविजयजी पर जो आक्षेप लिखे है सब ही झूठे हैं। श्री विजयानंद सूरीश्वरजी महाराज के लिखे हुए पाठ की हम प्रत्यक्षरशः सिद्धि करने को तैयार है परन्तु किताब के कलेवर कों नाहक बढाना नहीं चाहते इस लिये ही हमने प्रथम स्थाली पुलाक न्याय से ही इस का खण्डन

करने की प्रतिज्ञा की है। श्री विजयानंद सूरीश्वरजी महाराज ने पंजाब के अनेक नगरों में ढूंढियों की जड उखेड के फेंक दी जिस से ईर्षालु बनकर उनके लिये झूठे आक्षेप दे रहे हो, सब निकम्मे है, उन्होने अन्य ठिकाने से पाठ लिया तुम अन्य ठिकाने का ले रहे हो, इस से भी तुम झूठे हो न कि श्री विजयानंद सूरीश्वरजी महाराज।

प्रिय पाठकों आप को विदित रहे कि इसी तरह से १८० के पृष्ट से किताब की समाप्ति तक पिष्ट पेषण झूठी कल्पना ग्रन्थ के आशय समझे सिवाय संघ पट्टक, योगशास्त्र, जैनतत्वादर्श आदि ग्रन्थ के नाम लिख कर जो कुच्छ लिखा है सर्वथा झूठ ही झूठ से पुस्तक भरा है और हम पूर्व में अनेक पाठों से मूर्त्तिपूजा सिद्ध कर चूके हैं।

'पं. बेचरदास युं लिखते हैं त्यूं लिखते हैं' इस कथन से तुम्हारी इच्छा सफल नहीं हो सकती, क्यों कि तुम्हारे ही स्थानकवासी मुनि पंचक जो ३५–३५ वर्ष के दीक्षित तुम्हारे कुपंथ को छोडकर 'मूर्त्ति बत्तीस सूत्र में है ढूंढीये झूठ अर्थ करते हैं' ऐसा कहते है और मूर्त्ति पूजक श्वेताम्बर धर्म का शरण लेते हैं इस बात को क्यों भूल जाते हो? बस २ शासनदेव तुम को सद्बुद्धि समर्पण करे और मुनि पंचक की तरह तुम्हारी कुमति भी टले।

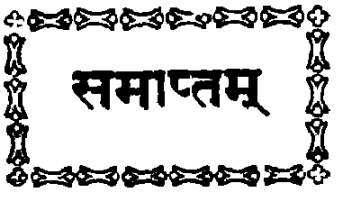

वीर सेवा मन्दिर
पुस्तकालय
काल नं० 240.3 [illegible]
लेखक श्रीविजयलावण्य सूरि
शीर्षक सूरिमंडन
खण्ड क्रम संख्या 846
दिनांक